गंगा-पुस्तकमाला का अट्ठानवेवाँ पुष्प

चित्रशाला

[द्वितीय भाग]

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक

चित्रशाला

[द्वितीय भाग]

संपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(सुधा-संपादक)

उत्तमोत्तम ग्रंथ

रंगभूमि (दोनों भाग)	४), ६)	अबला	१), १॥)
बहता हुआ फूल	२॥), ३)	पतन	१॥), २)
विजया	१॥), २)	कर्मफल	१॥), २)
हृदय की प्यास	१॥), २)	पतिव्रता	१=), १॥=)
मा	लगभग ३)	प्रबुद्ध यामुन	१), १॥)
मिस्टर व्यास की कथा	२॥), ३)	मदर-इंडिया का जवाब	१=), १॥=)
नंदन-निकुंज	॥), १)	तूलिका	१), १॥)
प्रेम-प्रसून	१=), १॥=)	जब सूर्योदय होगा	१), १॥)
प्रेम-गंगा	१), १॥)	मुक्ति-मंदिर	॥।=), १=)
प्रेम-द्वादशी	१), १॥)	जुझार तेजा	॥), १)
गिरिबाला	१), १॥)	रतिरानी	१॥), २)
विदा	२॥), ३)	आहुति	१), १॥)
विचित्र योगी	१), १॥)	प्रेम-परीक्षा	॥।=), १=)
मंजरी	१), १॥)	सौ अजान और एक सुजान	१)
जासूस की डाली	१॥), २)	विवाह-विज्ञापन	१), १॥)
पवित्र पापी	३), ३॥)	अश्रुपात	१), १॥)
सीधे पंडित	१॥), २)	जयद्रथ-वध	॥।=), १=)
कमला-कुसुम	॥), १)		

सब प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता—

संचालक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२३-२५, लाटूश रोड, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का अट्ठानबेवाँ पुष्प

चित्रशाला

[द्वितीय भाग]

[कहानियों का संग्रह]

लेखक
पं० विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
प्रकाशक और विक्रेता
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द १॥)]   सं० १९८६ वि०   [सादी १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

दो शब्द

कोई ५ वर्ष हुए हमने कौशिकजी की २५ सुंदर कहानियों का एक संग्रह गंगा-पुस्तकमाला में प्रकाशित किया था। वह हिंदी-भाषा-भाषियों को इतना पसंद आया कि हमें उसका दूसरा संस्करण निकालना पड़ा। इसी से उत्साहित होकर हमने कौशिकजी की नवीन कहानियों में से सबसे अच्छी १० कहानियाँ चुनी हैं, और उन्हें चित्रशाला (द्वितीय भाग) के नाम से निकाल रहे हैं।

आशा है, गंगा-पुस्तकमाला के स्नेही इसे भी प्रथम भाग की तरह ही अपनाएँगे।

गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस,
लखनऊ, ८ जून, १९२१ } दुलारेलाल भार्गव

विषय-सूची

चित्रशाला

[द्वितीय भाग]

स्वतंत्रता

(१)

एक दीर्घ निःश्वास लेकर सुखदेवप्रसाद ने कहा—क्या ख़ाक भाग्यवान् हूँ, मैं तो समझता हूँ कि मेरा भाग्य फूट गया !

सुखदेवप्रसाद के मित्र बिहारीलाल ने कहा—अरे यार, क्यों ईश्वर के प्रति कृतघ्न बनते हो ! ऐसी पत्नी यदि मुझे मिलती, तो मैं अपना जीवन सुफल समझता।

सुखदेव०—जान अज़ाब में हो जाती, जीवन सुफल-वफल ख़ाक न होता।

बिहारीलाल—आप तो हैं पागल ! नाहक़ कुफ़्र बकते हो। क्यों साहब, उसमें क्या ऐब है ? गाना वह गावे, हारमोनियम वह बजावे, हिंदी वह भली भाँति पढ़-लिख लेती है, अँगरेज़ी की इंट्रेंस तक की योग्यता उसमें है, उर्दू भी थोड़ी-बहुत जानती है, सीने-पिरोने में वह कुशल है—इससे अधिक आप और क्या चाहते हैं ? सूरत-शक्ल में भी सैकड़ों में एक है। ईश्वर जाने इससे अधिक एक स्त्री में और क्या होना चाहिए।

सुखदेव०—यह सब ठीक है !

बिहारीलाल—मगर ?

सुखदेव०—मगर फिर भी उसमें कमी है, और वह बहुत बड़ी कमी है।

बिहारीलाल—क्या कमी है ?

सुखदेव०—वह कमी है बुद्धि की, तमीज़ की।

बिहारीलाल—जो स्त्री इतनी सुशिक्षित होगी, उसमें बुद्धि की कमी कैसे हो सकती है ?

सुखदेव०—क्या यह बात आपकी समझ में नहीं आती ?

बिहारीलाल—कदापि नहीं।

सुखदेव०—क्या पढ़े-लिखे बेवकूफ़ नहीं होते ?

बिहारीलाल—अरे, यों तो किसी-न-किसी बात में प्रत्येक मनुष्य बेवकूफ़ होता ही है, चाहे पढ़ा-लिखा हो, चाहे मूर्ख।

सुखदेव०—तुम्हारी समझ में यह बात नहीं आ सकती।

बिहारीलाल—समझ में तो तब आवे, जब कोई बात हो।

सुखदेव०—मैं पागल तो हूँ नहीं, जो बिना बात ही बक रहा हूँ।

बिहारीलाल—ख़ैर, पागल तो मैं तुम्हें कह नहीं सकता ; परंतु इतना अवश्य है कि तुम्हें भ्रम है।

सुखदेव०—ख़ैर भई, भ्रम ही सही। तुमसे कुछ परामर्श, कुछ सहानुभूति पाने की इच्छा से मैंने तुम्हें अपना दुःख सुनाया ; तुम उलटे मुझी को उल्लू बनाने लगे। समय की बात है !

बिहारीलाल—समय क्या ख़ाक है ? समय पड़े तुम्हारे दुश्मनों पर। यह सब तुम्हारी समझ का फेर है। मेरी पत्नी तो उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करती है। जब बात पड़ती है, तब यही कहती है कि सुखदेव बाबू की घरवाली हज़ार-दो हज़ार में एक औरत है।

सुखदेवप्रसाद विषादयुक्त हास्य के साथ बोले—बाहरवालों के लिये तो वह ऐसी ही है, पर घरवालों के लिये नहीं ; विशेषतः मेरे लिये तो रत्ती-भर भी नहीं। एक अच्छी पत्नी में जो-जो बातें होनी चाहिए, वे उसमें एक भी नहीं हैं। मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि यद्यपि आपकी पत्नी बिलकुल निरक्षर है, गाना-बजाना भी नहीं

जानती; परंतु फिर भी एक पत्नी की हैसियत से वह मेरी पत्नी से लाख दर्जे अच्छी है।

बिहारीलाल—अजी तोबा करो! कहाँ वह और कहाँ आपकी पत्नी, आकाश-पाताल का अंतर है। परंतु हाँ, यह बात अवश्य है कि वह मुझे हर तरह से संतुष्ट रखती है।

सुखदेव०—यह! यही तो ख़ास बात है। यद्यपि वह अशिक्षित है, परंतु फिर भी वह आपको संतुष्ट रखने की योग्यता रखती है। इसलिये वह एक सच्ची पत्नी है। जो पत्नी अपने पति को संतुष्ट नहीं रख सकती, वह चाहे जितनी सुशिक्षित हो, चाहे जितनी सुंदर हो, कभी सच्ची पत्नी कहलाने योग्य नहीं।

बिहारीलाल—तो वह आपको संतुष्ट नहीं रखती?

सुखदेव०—सारा रोना तो यही है।

बिहारीलाल 'हूँ' कहकर चुप हो गए। थोड़ी देर के पश्चात् सिर उठाकर बोले—ख़ैर भई, तुम कहते हो, तो मानना ही पड़ेगा। परंतु यह बड़े आश्चर्य की बात है।

सुखदेव०—संसार में अनेक आश्चर्य की बातें होती हैं।

(२)

सुखदेवप्रसाद एक धनाढ्य पिता के पुत्र हैं। वयस अभी २३-२४ वर्ष की है। पढ़े-लिखे भी यथेष्ट हैं। बी० ए० तक शिक्षा पाई है। जिस वर्ष बी० ए० की अंतिम परीक्षा देनेवाले थे, उसी वर्ष असहयोग-धार में पड़ जाने के कारण बी० ए० पास न कर सके। घर में ज़मींदारी तथा लेन-देन का इतना काम था कि उन्हें कोई अन्य उद्योग-धंधा करने की आवश्यकता न थी, इसलिये उनके पिता ने भी उनके असहयोग पर कोई आपत्ति नहीं की।

सुखदेवप्रसाद की एक महत्वाकांक्षा थी और वह यह थी कि उनका विवाह किसी सुशिक्षित कन्या से हो। उनके मित्रों द्वारा

उनके पिता को भी उनकी इस महत्त्वाकांक्षा का पता लग गया था। अतएव वह भी इसी चेष्टा में रहे कि कोई सुशिक्षित पुत्र-वधू मिले।

ईश्वर ने उनकी यह अभिलाषा पूरी की। एक वकील साहब की कन्या मिल गई, जो प्रत्येक दृष्टि से सुखदेवप्रसाद के चित्तानुकूल थी, विवाह-संबंध हो गया। यद्यपि वकील साहब ने विवाह में दहेज बहुत ही साधारण दिया, अन्य किसी प्रकार की धूमधाम भी नहीं की; परंतु तब भी सुखदेवप्रसाद और उनके पिता ने केवल कन्या-रत्न पाकर ही अपने को धन्य माना।

विवाह हो जाने के पश्चात् जब सुखदेवप्रसाद की पत्नी प्रियंवदा देवी ससुराल आईं और सुखदेवप्रसाद से उनका प्रथम साक्षात् हुआ, तो सुखदेवप्रसाद ने पत्नी का नख-शिख तथा उनकी योग्यता देखकर अपने भाग्य को सराहा। परंतु ज्यों-ज्यों दिन व्यतीत होने लगे और प्रियंवदा देवी की नव वधूचित लज्जा एवं संकोच में कमी होने लगी, त्यों-त्यों सुखदेवप्रसाद को पत्नी की ओर से निराशा-सी होने लगी। उन्हें पता लगा कि जिसको वह अमृत समझे थे, वह विष निकला। इसका परिणाम यह हुआ कि सुखदेवप्रसाद पत्नी की ओर से क्रमशः उदासीन होने लगे।

शाम के आठ बज चुके थे, सुखदेवप्रसाद घूमकर घर लौटे और सीधे अपने निजी कमरे में पहुँचे। कमरे के भीतर पैर रखते ही उन्होंने देखा कि प्रियंवदा देवी पलंग पर पड़ी एक उपन्यास पढ़ने में मग्न हैं। पति के पैरों की आहट पाकर उन्होंने एक बेर पुस्तक पर से दृष्टि हटाकर पति की ओर देखा, तत्पश्चात् पुनः पुस्तक पर दृष्टि जमा ली। पत्नी का यह व्यवहार देखकर सुखदेवप्रसाद के माथे पर बल पड़ गया। उन्होंने चुपचाप कपड़े उतारे और एक ओर मेज़ के पास पड़ी हुई कुर्सी पर बैठ गए। शाम की डाक से कुछ पत्र आए थे, वे मेज़ पर रक्खे हुए थे, उन्हें पढ़ने लगे। इस कार्य में

बीस मिनट के लगभग व्यतीत हुए। पत्र पढ़ चुकने पर उन्होंने पुनः घूमकर पत्नी की ओर देखा—वह उसी प्रकार उपन्यास-पाठ में दत्तचित्त थीं। कुछ देर तक सुखदेवप्रसाद उनकी ओर देखते रहे, तत्पश्चात् धीरे से बोले—कुछ भोजन-वोजन की भी फ़िक्र है या उपन्यास ही पढ़ा करोगी?

प्रियंवदा देवी ने उसी प्रकार लेटे हुए कमरे में लगे हुए क्लाक की ओर देखा और बोलीं—अभी तो साढ़े आठ ही बजे हैं, ज़रा और ठहर जाओ, तब तक मैं यह परिच्छेद समाप्त कर लूँ।

सुखदेव०—परिच्छेद पीछे समाप्त करना, पहले मेरे लिये भोजन का प्रबंध कर दो।

प्रियंवदा देवी ने 'उँह' कहकर पुस्तक पलँग पर पटक दी और भृकुटी चढ़ाए हुए, पलँग पर से उठकर कमरे के बाहर चली गईं। वहाँ से थोड़ी देर के पश्चात् लौटकर बोलीं—भोजन आ रहा है। यह कह पलँग पर बैठकर पुनः पुस्तक उठा ली और बैठे-ही-बैठे पढ़ने लगीं।

सुखदेवप्रसाद संध्या-काल का भोजन अपने कमरे में ही करते थे। कमरे से मिला हुआ ही एक यथेष्ट बड़ा स्नान-गृह था। इसका फ़र्श श्वेत टाइल्स का बना हुआ था। इसी फ़र्श पर एक नौकर ने आकर एक बड़ा ऊनी आसन बिछा दिया और जल का लोटा तथा दो गिलास रख दिए। इसके पश्चात् उसने दो थालियाँ लाकर आसन के सामने रख दीं और सुखदेवप्रसाद से कहा—आइए बाबूजी। इतना कहकर वह वहाँ से चला गया।

सुखदेवप्रसाद उठे और उन्होंने पत्नी से कहा—चलो, भोजन कर लो।

प्रियंवदा देवी बोलीं—तुम कर लो, मैं तो इस परिच्छेद को समाप्त करके भोजन करूँगी।

उनके पिता को भी उनकी इस महत्त्वाकांक्षा का पता लग गया था। अतएव वह भी इसी चेष्टा में रहे कि कोई सुशिक्षित पुत्र-वधू मिले।

ईश्वर ने उनकी यह अभिलाषा पूरी की। एक वकील साहब की कन्या मिल गई, जो प्रत्येक दृष्टि से सुखदेवप्रसाद के चित्तानुकूल थी, विवाह-संबंध हो गया। यद्यपि वकील साहब ने विवाह में दहेज बहुत ही साधारण दिया, अन्य किसी प्रकार की धूमधाम भी नहीं की; परंतु तब भी सुखदेवप्रसाद और उनके पिता ने केवल कन्या-रत्न पाकर ही अपने को धन्य माना।

विवाह हो जाने के पश्चात् जब सुखदेवप्रसाद की पत्नी प्रियंवदा देवी ससुराल आईं और सुखदेवप्रसाद से उनका प्रथम साक्षात् हुआ, तो सुखदेवप्रसाद ने पत्नी का नख-शिख तथा उनकी योग्यता देखकर अपने भाग्य को सराहा। परंतु ज्यों-ज्यों दिन व्यतीत होने लगे और प्रियंवदा देवी की नव वधूचित लज्जा एवं संकोच में कमी होने लगी, त्यों-त्यों सुखदेवप्रसाद को पत्नी की ओर से निराशा-सी होने लगी। उन्हें पता लगा कि जिसको वह अमृत समझे थे, वह विष निकला। इसका परिणाम यह हुआ कि सुखदेवप्रसाद पत्नी की ओर से क्रमशः उदासीन होने लगे।

शाम के आठ बज चुके थे, सुखदेवप्रसाद घूमकर घर लौटे और सीधे अपने निजी कमरे में पहुँचे। कमरे के भीतर पैर रखते ही उन्होंने देखा कि प्रियंवदा देवी पलंग पर पड़ी एक उपन्यास पढ़ने में मग्न हैं। पति के पैरों की आहट पाकर उन्होंने एक बेर पुस्तक पर से दृष्टि हटाकर पति की ओर देखा, तत्पश्चात् पुनः पुस्तक पर दृष्टि जमा ली। पत्नी का यह व्यवहार देखकर सुखदेवप्रसाद के माथे पर बल पड़ गया। उन्होंने चुपचाप कपड़े उतारे और एक ओर मेज़ के पास पड़ी हुई कुर्सी पर बैठ गए। शाम की डाक से कुछ पत्र आए थे, वे मेज़ पर रक्खे हुए थे, उन्हें पढ़ने लगे। इस कार्य में

बीस मिनट के लगभग व्यतीत हुए। पत्र पढ़ चुकने पर उन्होंने पुनः घूमकर पत्नी की ओर देखा—वह उसी प्रकार उपन्यास-पाठ में दत्तचित्त थीं। कुछ देर तक सुखदेवप्रसाद उनकी ओर देखते रहे, तत्पश्चात् धीरे से बोले—कुछ भोजन-वोजन की भी फ़िक्र है या उपन्यास ही पढ़ा करोगी?

प्रियंवदा देवी ने उसी प्रकार लेटे हुए कमरे में लगे हुए क्लाक की ओर देखा और बोलीं—अभी तो साढ़े आठ ही बजे हैं, ज़रा और ठहर जाओ, तब तक मैं यह परिच्छेद समाप्त कर लूँ।

सुखदेव०—परिच्छेद पीछे समाप्त करना, पहले मेरे लिये भोजन का प्रबंध कर दो।

प्रियंवदा देवी ने 'ऊँह' कहकर पुस्तक पलँग पर पटक दी और भृकुटी चढ़ाए हुए, पलँग पर से उठकर कमरे के बाहर चली गईं। वहाँ से थोड़ी देर के पश्चात् लौटकर बोलीं—भोजन आ रहा है। यह कह पलँग पर बैठकर पुनः पुस्तक उठा ली और बैठे-ही-बैठे पढ़ने लगीं।

सुखदेवप्रसाद संध्या-काल का भोजन अपने कमरे में ही करते थे। कमरे से मिला हुआ ही एक यथेष्ट बड़ा स्नान-गृह था। इसका फ़र्श श्वेत टाइल्स का बना हुआ था। इसी फ़र्श पर एक नौकर ने आकर एक बड़ा ऊनी आसन बिछा दिया और जल का लोटा तथा दो गिलास रख दिए। इसके पश्चात् उसने दो थालियाँ लाकर आसन के सामने रख दीं और सुखदेवप्रसाद से कहा—आइए बाबूजी। इतना कहकर वह वहाँ से चला गया।

सुखदेवप्रसाद उठे और उन्होंने पत्नी से कहा—चलो, भोजन कर लो।

प्रियंवदा देवी बोलीं—तुम कर लो, मैं तो इस परिच्छेद को समाप्त करके भोजन करूँगी।

सुखदेव०—कोई प्रण किया है क्या ?

प्रियंवदा—प्रण करने की कौन-सी बात है, तुम्हें भूक ज़ोर से लगी है, तुम भोजन करो। मुझे ज़ोर से नहीं लगी, मैं ठहरकर करूँगी।

इस बात के आगे कोई तर्क न चलता देख सुखदेवप्रसाद चुप-चाप आसन पर जा बैठे और भोजन करने लगे। वह भोजन समाप्त करके उठने ही वाले थे कि उसी समय प्रियंवदा ने परिच्छेद समाप्त कर दिया और पुस्तक को पलँग पर पटककर पति से पूछा—क्या भोजन कर चुके ?

सुखदेवप्रसाद ने कहा—तुम्हारी बला से !

प्रियंवदा देवी बोलीं—बस, इन्हें तो ज़रा-ज़रा-सी बात पर क्रोध आता है। इनके सामने कोई प्रत्येक समय हाथ जोड़े खड़ा रहे, तो यह प्रसन्न रहें।

सुखदेव०—जिन्हें प्रसन्न रखने का ख़याल रहता है, वे ऐसा करते ही हैं।

प्रियंवदा—जो स्त्रियाँ भी पुरुषों से ऐसे ही व्यवहार की आशा करें तो ?

सुखदेव०—कैसे व्यवहार की ? यही कि पुरुष स्त्री के सामने हाथ जोड़े खड़ा रहे !

प्रियंवदा—और क्या ! क्या स्त्रियों में ज्ञान नहीं है, क्या वे मनुष्य नहीं हैं ?

सुखदेव०—यह कौन कहता है कि स्त्रियाँ मनुष्य नहीं हैं ?

प्रियंवदा—तो फिर पुरुषों को क्या अधिकार है, जो वे स्त्रियों से क्रीत-दासी के-से व्यवहार की आशा रखते हैं। यदि वे ऐसी आशा रखते हैं, तो उनको भी स्त्री का क्रीत-दास बनकर रहना चाहिए।

सुखदेव०—रहते ही हैं। संसार में हज़ारों पुरुष ऐसे हैं, जो स्त्री के

ग़ुलाम बनकर रहते हैं। संसार में दोनों ही बातें मिलेंगी—स्त्रियाँ पुरुषों की ग़ुलाम बनकर रहती हैं और पुरुष स्त्री के ग़ुलाम बनकर रहते हैं।

प्रियंवदा देवी ने घृणा से नाक फुलाकर कहा—अशिक्षित स्त्रियाँ ही पुरुषों की ग़ुलाम बनकर रहती हैं।

सुखदेव०—योरप और अमेरिका की स्त्रियाँ तो अशिक्षित नहीं होतीं; परंतु वहाँ भी स्त्रियाँ पुरुषों की ग़ुलाम बनकर रहती हैं।

प्रियंवदा—क्यों ग़ुलाम बनकर रहती हैं?

सुखदेव०—जहाँ प्रेम होता है, वहाँ एक दूसरे का ग़ुलाम बनना ही पड़ता है।

प्रियंवदा—परंतु वहाँ नित्य तलाक़ भी तो होते रहते हैं।

सुखदेव०—बेशक! इसका कारण यही है कि जिन स्त्री-पुरुषों में प्रेम नहीं होता, वे बात-बात में स्वतंत्रता और अधिकार की दुहाई देते हैं, परिणाम यह होता है कि आपस में जूता चलता है, और तलाक़ की नौबत आ जाती है।

इतना कहकर सुखदेवप्रसाद उठ खड़े हुए और हाथ-मुँह धोने लगे।

प्रियंवदा देवी उठकर आसन पर अपनी थाली के सामने जा बैठीं और भोजन करने लगीं। सुखदेवप्रसाद तौलिए से हाथ पोंछते हुए कुर्सी पर आ बैठे।

प्रियंवदा देवी ने चुपचाप भोजन किया। भोजन करने के पश्चात् हाथ-मुँह धोकर पहले उन्होंने अपने और पति के लिये पान बनाए, तत्पश्चात् पुनः पलँग पर आ बैठीं। थोड़ी देर तक वह चुपचाप बैठी रहीं, इसके उपरांत उन्होंने कहा—ईश्वर ने स्त्री-पुरुष को समान बनाया है। दोनों को समान स्वतंत्रता तथा समान अधिकार मिलने चाहिए।

सुखदेवप्रसाद मुसकिराए। उन्होंने मन में सोचा—अर्द्धशिक्षा कितनी भयानक होती है। अर्द्धशिक्षा देने की अपेक्षा तो यही अच्छा है कि स्त्रियाँ अशिक्षित ही रहें।

प्रकट रूप में पत्नी से उन्होंने कहा—भगवान् जाने, तुम स्वतंत्रता और अधिकार के क्या अर्थ लगाती हो!

प्रियंवदा—स्वतंत्रता और अधिकार के यही अर्थ हैं कि जो बातें पुरुष करते हैं, वही स्त्रियों को भी करने दी जायँ। जैसा व्यवहार पुरुष स्त्री के साथ करते हैं, वैसा ही व्यवहार स्त्री पुरुष के साथ भी कर सके। जो बातें पुरुषों के लिये अच्छी समझी जायँ, वे स्त्रियों के लिये भी अच्छी समझी जायँ, और जो पुरुषों के लिये बुरी समझी जायँ, वे स्त्रियों के वास्ते भी बुरी समझी जायँ।

सुखदेव०—बस, इतनी ही-सी बात?

प्रियंवदा—बस, इतनी ही-सी बात।

सुखदेव०—अच्छी बात है, जाओ आज से मैं अपनी ओर से तुम्हें यह स्वतंत्रता तथा अधिकार देता हूँ कि जो भला-बुरा काम मैं करूँ, वही तुम भी कर सकती हो। जैसा व्यवहार मैं तुम्हारे साथ करता हूँ या करूँ, वैसा ही तुम मेरे साथ कर सकती हो।

प्रियंवदा—(प्रसन्न होकर) क्या सच्चे हृदय से ऐसा कहते हो?

सुखदेव०—सच्चे हृदय से।

प्रियंवदा—स्वच्छ हृदय से?

सुखदेव०—हाँ, स्वच्छ हृदय से।

प्रियंवदा उछलकर पति के गले से लिपट गई और बोली—प्रियतम, तुम आदर्श पति हो।

(२)

वैसे तो प्रियंवदा देवी को कोई दुःख न था। अच्छे-से-अच्छा

खाती थीं, और अच्छे-से-अच्छा पहनती थीं। पति भी उन्हें युवा, सुंदर, स्वस्थ तथा सुशिक्षित मिला था। घर में सास-ससुर इत्यादि भी उसे आँखों का तारा ही समझते थे। परंतु फिर भी प्रियंवदा देवी असंतुष्ट रहती थीं। उनके असंतोष के कई कारण थे। वह अपने को घर में सब स्त्रियों से अधिक सुशिक्षित समझती थीं, बात भी ठीक थी। सुखदेवप्रसाद के घर में कोई स्त्री प्रियंवदा के समान पढ़ी-लिखी न थी। अतएव उन्हें अपने पढ़े-लिखे होने का बड़ा अभिमान था। उनकी यह इच्छा थी कि घर की सब स्त्रियाँ उनकी आज्ञाकारिणी रहें, जो कार्य करें, उनके आदेशानुसार करें। पति से भी वह यही आशा रखती थीं कि वह उनके आज्ञाकारी रहें। 'ऐसी पत्नी उनके नसीब में थी कहाँ—ये उनके बड़े भाग्य हैं, जो उन्हें मेरे समान पत्नी मिली है, फिर भी वह मेरी क़द्र नहीं करते।' क़द्र करने का अर्थ प्रियंवदा देवी यह समझती थीं कि सुखदेवप्रसाद प्रत्येक समय उनका मुँह ताकते रहें, और जिस समय जैसी उनकी इच्छा हो, वैसा ही करें। उनके किसी कार्य पर वह कभी कोई आपत्ति न करें। जिस समय प्रियंवदा देवी की इस प्रकार की क़द्रदानी में व्याघात लगता था, तब वह अपनी सुशिक्षा की सहायता लेकर 'स्वतंत्रता' तथा 'अधिकार' के सिद्धांतों पर दृष्टिपात करती थीं। उस समय उन्हें यह पता लगता था कि भारतीय नारियों पर समाज बड़ा अत्याचार करता है। दूसरों से तो वह ऐसी आशाएँ रखती थीं; परंतु स्वयं उनका व्यवहार कैसा था? सास-ससुर की सेवा करना वह दासी-कर्म समझती थीं। एक दिन उनकी सास के पैरों में दर्द उठा। सुखदेवप्रसाद ने उनसे कहा—जाओ, ज़रा माताजी के पैर दाब दो। प्रियंवदा देवी मुँह बिचका-कर बोलीं—"यह काम तो नौकरों का है, मैंने आज तक किसी के पैर नहीं दाबे, मैं पैर दाबना क्या जानूँ?" यहाँ तक कि पति की

सेवा करना भी वह अपनी शान के ख़िलाफ़ समझती थीं। पति-सेवा का अर्थ, उनकी समझ में केवल इतना था कि पति से मीठी-मीठी बातें करके उन्हें अपने ऊपर इतना मुग्ध कर लेना कि वह किसी बात से इनकार ही न कर सकें। उनके लिये भोजन का प्रबंध कर देना, पान लगा देना, हारमोनियम बजाकर सुनाना, और कोई समाचार-पत्र अथवा पुस्तक पढ़कर सुना देना। यद्यपि वह सीने-पिरोने में अपने को सिद्ध-हस्त समझती थीं, और अच्छे-से-अच्छे दर्ज़ी के सिए हुए कपड़ों में भी छिद्रान्वेषण किए बिना उन्हें कल नहीं पड़ती थी; परंतु क्या मजाल जो अपने हाथ से किसी कपड़े में एक टाँका भी लगावें—'ऊँह यह काम दर्ज़ियों का है।' भोजन पकाने में उनकी समानता कोई शाही बावर्ची भी नहीं कर सकता था, परंतु उन्होंने किसी को कभी कोई चीज़ बनाकर नहीं खिलाई। क्यों नहीं खिलाई? खिलावें कैसे? आँच और धुएँ के सामने बैठने से सिर में दर्द होने लगता है। यदि कोई ऐसा चूल्हा हो, जिसमें न आँच लगे और न धुआँ हो, तब तो बहू रानी भोजन बनावें। फिर उस समय भोजन का स्वाद न मिले और खानेवाले उँगलियाँ चाटते न रह जायँ, तो नाम नहीं। हाँ, संसार में केवल एक काम था, जिसे वह अपने योग्य समझती थीं, वह काम था—मोज़े इत्यादि बुनना। पति के लिये उन्होंने बड़े परिश्रम से १५-२० मिनट रोज़ मेहनत करके, लगभग तीन महीने में एक मफ़लर बुना था। जिस समय मफ़लर बनकर तैयार हुआ, उस समय पहले तो उनको यह इच्छा हुई कि उसे किसी कला-कौशल की प्रदर्शिनी में भेज दें; परंतु पहले पति से यह कह चुकी थीं कि तुम्हारे लिये बुन रही हूँ। इसलिये मन मसोसकर रह गईं। यह प्रदर्शिनी का दुर्भाग्य था कि प्रियंवदा देवी का मफ़लर उसकी शोभा न बढ़ा सका। ख़ैर, चलो प्रदर्शिनी की शोभा न बढ़ी सो न सही, परंतु

पति की गर्दन में तो एहसान का तौक़ पड़ गया—ऐसे एहसान का तौक़, जिसकी मार से वह कभी अपनी प्रियतमा के सामने सिर न उठा सकेंगे।

जिस दिन पति ने उन्हें स्वतंत्र कर दिया, और समस्त अधिकार दे दिए, उस दिन उन्होंने केवल अपनी ही नहीं, वरन् समस्त स्त्री-जाति की विजय समझी। उन्होंने समझा कि वह पहली भारतीय नारी हैं, जिन्हें ऐसे अभूतपूर्व अधिकार मिले हैं। उन्होंने सोचा, कल इस विजय पर एक लेख लिखकर किसी बढ़िया मासिक पत्र में भेजूँगी। साथ ही अपना फ़ोटो भी भेज दूँगी और संपादक महोदय को एक पत्र डॉटकर लिखूँगी कि लेख को अच्छे स्थान पर हमारे चित्र-सहित छापना।

दूसरे दिन प्रातःकाल से सुखदेवप्रसाद ने अपने व्यवहार की काया-पलट कर दी। उन्होंने प्रियंवदा देवी से किसी काम के लिये कहने की क़सम खा ली। प्रियंवदा जो बात पूछतीं, उसका उत्तर दे देते, बस, इससे अधिक और कुछ नहीं! जब घर में रहते और अपने निजी कमरे में बैठते, तब यह दशा होती थी कि एक कुर्सी पर बैठे वह पुस्तक पढ़ रहे हैं और दूसरी कुर्सी पर बैठी प्रियंवदा देवी पढ़ रही हैं। यदि सुखदेवप्रसाद को प्यास लगी, तो वह स्वयं उठकर पानी ले लेते थे अथवा नौकर को आवाज़ दे देते थे। अभी तक तो पान प्रियंवदा देवी लगाया करती थीं, परंतु अब सुखदेवप्रसाद स्वयं पान लगाने लगे। रात को भोजन इत्यादि भी अपने ही आप मँगा लेते थे। सोते समय दूध भी स्वयं ही नौकर से माँग लेते। अब प्रियं-वदा देवी को दिन-भर पलँग तोड़ने तथा उपन्यास और समाचार-पत्र पढ़ने के अतिरिक्त और कोई काम न करना पड़ता था।

इसी प्रकार चार-छः दिन व्यतीत हुए। एक दिन शाम को सुखदेवप्रसाद बाहर घूमने जा रहे थे, उसी समय प्रियंवदा ने पूछा—कहाँ चले?

सुखदेव०—बाहर घूमने जाता हूँ।

प्रियंवदा—पैदल या गाड़ी पर ?

सुखदेव०—गाड़ी पर।

प्रियंवदा—मैं भी चलूँगी।

सुखदेव०—क्या मेरे साथ ?

प्रियंवदा—हाँ।

सुखदेव०—बड़ी सुंदर बात है; पर माता और पिताजी बुरा न मानें।

प्रियंवदा—मानें तो माना करें, मैं कहाँ तक घर में बैठी-बैठी घुटा करूँ।

सुखदेव०—माताजी के साथ तो गंगाजी तथा इधर-उधर घूमने जाती रहती हो।

प्रियंवदा—उनके साथ जाने से क्या लाभ ? वह गाड़ी के द्वार बंद रखती हैं—शुद्ध वायु नसीब नहीं होती। तुम्हारे साथ जाने में कुछ तो स्वतंत्रता रहेगी।

अब सुखदेवप्रसाद बड़े धर्म-संकट में पड़े। उन्हें स्वयं इस कार्य में कोई आपत्ति न थी, परंतु माता-पिता का भय लगा हुआ था। अंत को उन्होंने बहुत कुछ सोच-विचारकर पत्नी से कहा—अच्छा कपड़े पहनो।

पत्नी से यह कहकर वह स्वयं पिताजी के पास पहुँचे और उनसे बोले—पिताजी, आज एक बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य में मैं आपकी सहायता चाहता हूँ।

पिता—कैसा कार्य बेटा ? क्या कार्य है ?

पुत्र—बात यह है कि आपकी बहू स्त्रियों की स्वतंत्रता और अधिकार के फेर में है, ज़रा उसे ठीक रास्ते पर लाना है, परंतु यह तभी हो सकता है, जब आप इसमें मेरी पूरी सहायता करें।

पिता को पुत्र की बात सुनकर आश्चर्य हुआ। कुछ देर तक

सोचकर बोले—यह तो बड़ी विचित्र बात है। मैं इसमें क्या सहायता कर सकता हूँ ?

सुखदेवप्रसाद ने पिता को अपनी पत्नी के आचार-विचार बता दिए और उसको स्वतंत्र कर देने की बात भी बता दी। सब बातें समझाकर बोले—अब मैं उसे इतनी स्वतंत्रता देना चाहता हूँ कि उसे स्वतंत्रता का अजीर्ण हो जाय—तभी वह रास्ते पर आवेगी। अतएव मैं जो कुछ कहूँ, उस पर आप कोई आपत्ति न करें और माताजी को भी समझा दें कि वह भी कुछ न कहें।

पिता ने बहुत कुछ सोच-समझकर मुसकिराते हुए कहा—अच्छी बात है, मगर कोई कार्य ऐसा न करना, जिससे आबरू में बट्टा लगे। यह अच्छी रही! मैंने पढ़ी-लिखी लड़की यह समझकर ली थी कि घर-द्वार का अच्छा प्रबंध करेगी, सब बातों का सुख रहेगा। मुझे यह क्या मालूम था कि उलटे गले का भार हो जायगी। ख़ैर, अब तो जो होना था, हो ही गया।

उसी दिन सुखदेवप्रसाद प्रियंवदा देवी को अपने साथ गाड़ी पर घुमाने ले गए।

(४)

क्रमशः यहाँ तक नौबत पहुँची कि प्रियंवदा देवी नित्य पति के साथ घूमने जाने लगीं। इसके अतिरिक्त बायस्कोप, थिएटर इत्यादि में भी पति के बग़ल में ही बैठने लगीं। उन्हें इस कार्य से मित्रों के सामने बहुत ही लज्जित होना पड़ा। सब कहने लगे—अब तो सुखदेवप्रसाद बिलकुल साहब हो गए, जब देखो, जोरू बग़ल में है। परंतु बेचारे करते क्या, चुपचाप सब सुनते थे।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। पहले तो प्रियंवदा देवी इन सब बातों से उतनी ही प्रसन्न हुईं, जितना कि एक पक्षी पिंजरे में से मुक्त होकर प्रसन्न होता है। परंतु उनकी यह प्रसन्नता अधिक

दिनों तक स्थिर न रह सकी। सुखदेवप्रसाद ने वैसे तो उन्हें सब तरह की स्वतंत्रता दे दी थी और प्रियंवदा देवी को सारे सुख प्राप्त हो गए थे; पर फिर भी वह सुखी न थीं। उनके सुखी न होने का कारण यह था कि एक तो घर में उनसे सब लोग शुष्क व्यवहार करने लगे थे, उनकी सास देवी भी उनसे आवश्यक बात के अतिरिक्त और कभी कोई बात न करती थीं; और इधर सुखदेवप्रसाद कभी भूलकर भी उनसे प्रेमालाप न करते थे। यद्यपि प्रियंवदा के साथ उनका व्यवहार अत्यंत नम्र, शिष्ट तथा आदरपूर्ण था, पर प्रेम की उसमें कहीं गंध तक न थी। केवल नम्र, शिष्ट तथा आदरपूर्ण व्यवहार से प्रियंवदा देवी तृप्त न होती थीं। सब ओर से संतुष्ट होने पर प्रियंवदा के हृदय में प्रेम की तृष्णा बढ़ी। परंतु इस संबंध में सुखदेवप्रसाद बिलकुल उदासीन थे। प्रियंवदा ने पति के हृदय में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करने की चेष्टा आरंभ की। नित्य भाँति-भाँति के शृंगार करतीं, अनेक मोहन हाव-भाव तथा अन्य चेष्टाएँ करतीं; परंतु सुखदेवप्रसाद का हृदय क्या था, एक हिम-शिला था, जिसमें प्रेम की उष्णता उत्पन्न ही नहीं होती थी।

एक दिन सुखदेवप्रसाद के सिर में दर्द उठा। वह दर्द की शिकायत करके पलँग पर लेट रहे।

प्रियंवदा देवी थोड़ी देर तक तो कुर्सी पर बैठी पुस्तक पढ़ती रहीं। इसके उपरांत बोलीं—बहुत दर्द हो तो दाब दूँ।

सुखदेव०—नहीं, ऐसा अधिक नहीं है।

प्रियंवदा देवी चुप हो गईं। परंतु उन्हें चैन न पड़ी। थोड़ी देर में वह उठकर पति के सिरहाने बैठ गईं और उनका सिर दाबने लगीं। उन्होंने सिर में हाथ लगाया ही था कि सुखदेवप्रसाद ने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा—बिना मेरी सम्मति लिए तुम्हें मेरे शरीर में हाथ लगाने का कोई अधिकार नहीं। इतना सुनते ही प्रियंवदा देवी

शर्म से पसीने-पसीने हो गईं और म्लान मुख होकर चुपचाप अपनी कुर्सी पर आ बैठीं। फिर हथेली पर गाल रखकर विचार-सागर में डूब गईं।

इस घटना के दो दिन पश्चात् प्रियंवदा ने पति से कहा—मालूम होता है, तुमको मुझसे प्रेम नहीं रहा।

सुखदेव०—प्रेम हो या न हो, इससे तुम्हें क्या मतलब? तुम्हें मैंने पूर्ण स्वतंत्रता दे रक्खी है, क्या इतने से तुम्हें संतोष नहीं है?

प्रियंवदा—क्या मेरे प्रति तुम्हारा कर्तव्य इतने ही से समाप्त हो जाता है?

सुखदेवप्रसाद घृणा से मुसकिराकर बोले—कर्तव्य! कर्तव्य की बात मत करो। स्वतंत्रता और अधिकार की बात करो। अपने इच्छानुसार कार्य करने के लिये तुम स्वतंत्र हो और स्वेच्छानुसार कार्य करने के लिये मैं स्वतंत्र हूँ, कर्तव्य को बीच में घसीटना व्यर्थ है।

प्रियंवदा—व्यर्थ कैसे? प्रत्येक पति का अपनी पत्नी के प्रति कुछ कर्तव्य होता है।

सुखदेव०—मैं फिर कहता हूँ—कर्तव्य की बातें मत करो।

प्रियंवदा का मुख तमतमा उठा। उसने बड़े आवेशपूर्वक कहा—कर्तव्य की बातें कैसे न कहूँ? क्या तुम समझते हो कि मैं केवल स्वतंत्रता और अधिकार प्राप्त हो जाने से ही सुखी हो सकती हूँ? मेरा तुम पर भी तो कुछ अधिकार है।

सुखदेव०—हाँ, अधिकार क्यों नहीं है। अधिकार बहुत कुछ है। मुझ पर तुम्हारा इतना ही अधिकार है कि तुम स्त्री होने से अबला हो और इसलिये मैं तुम्हारी रक्षा करता हूँ—बस, तुम्हारा इतना ही अधिकार है। यदि मैं तुम्हारी रक्षा न कर सकूँ, तुम्हें भोजन-वस्त्र न दे सकूँ, तो तुम शिकायत कर सकती हो। यद्यपि न्याय से तो यह होना चाहिए कि जब तुम पुरुषों के बराबर अधिकार तथा स्वतंत्रता चाहती हो, तो तुम्हें स्वयं ही अपने भोजन तथा वस्त्र के लिये धन

भी उपार्जन करना चाहिए। परंतु ; नहीं, मैं इतनी सख़्ती नहीं करना चाहता, मैं तुम्हारी कमज़ोरियों को समझता हूँ।

प्रियंवदा—हे ईश्वर ! तो क्या मुझे अब अपने भोजन-वस्त्र के लिये धन भी कमाना पड़ेगा ?

सुखदेव०—यह तो तुम्हीं समझो। मैं तो केवल इतना समझता हूँ कि जब तक तुम भोजन-वस्त्र के लिये मुझ पर निर्भर हो, तब तक तुम पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं हो।

प्रियंवदा—क्या पति का यही धर्म है कि अपनी पत्नी से धनोपार्जन करने को कहे ?

सुखदेव०—जब पत्नी का यह धर्म है कि प्रत्येक बात में पति के सामने स्वतंत्रता तथा अधिकार के सिद्धांत की दुहाई दे, तब पति का भी यही धर्म है कि पत्नी को जहाँ तक संभव हो सके, पूर्ण रूप से स्वतंत्र बना दे।

इतना सुनते ही प्रियंवदा ने रोना आरंभ किया। रोते-रोते बोलीं—मुझे इस प्रकार जलाने में तुम्हें कुछ आनंद आता है ?

सुखदेव०—मुझे तो तुम्हें पूर्ण रूप से स्वतंत्र कर देने में आनंद आता है। मेरे आनंद की परा काष्ठा तो उस दिन होगी, जिस दिन तुम अपने भरण-पोषण के लिये चार पैसे पैदा करने लगोगी।

प्रियंवदा—ओफ़ ! अब नहीं सहा जाता ! तुम्हें अपनी पत्नी से ऐसे शब्द कहते लाज नहीं लगती ?

सुखदेव०—जब पत्नी स्वयं लाज-शर्म को तिलांजलि दे बैठी, तब मेरे रक्खे लाज-शर्म कब तक रहेगी ? अभी तो तुम्हारी स्वतंत्रता में थोड़ी कसर बाक़ी है !

प्रियंवदा—भाड़ में जाय स्वतंत्रता, मैं ऐसी स्वतंत्रता नहीं चाहती।

सुखदेव०—तो फिर क्या चाहती हो ?

प्रियंवदा—मैं तुम्हें चाहती हूँ, तुम्हारा प्रेम चाहती हूँ और कुछ नहीं चाहती।

सुखदेव०—तो प्रेम और स्वतंत्रता में तो बड़ा अंतर है। जो प्रेम चाहता है, वह प्रेम का चलन भी चलता है। प्रेमी जन स्वतंत्र कब होते हैं? वे तो घोर परतंत्र होते हैं। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ स्वतंत्रता तथा अधिकार का प्रश्न कभी उठ ही नहीं सकता।

इतना सुनते ही प्रियंवदा उठकर पति से लिपट गई और उनके कंधे पर सिर रखकर सिसकती हुई बोली—यदि तुम इसी कारण मुझसे रुष्ट हो, तो मैं शपथ खाती हूँ कि आज से कभी स्वतंत्रता का नाम भी न लूँगी। जिसमें तुम्हारी प्रसन्नता होगी, वही करूँगी।

सुखदेव०—यदि यह बात है, तो मैं भी शपथ खाता हूँ कि आज से मैं तुम्हें अपने प्रणय का क़ैदी बना लूँगा!

यह कहकर सुखदेवप्रसाद ने पत्नी को हृदय से लगा लिया।

सुधार

(१)

बाबू शिवकुमार बड़े देश-भक्त थे। उनमें देश-भक्ति की मात्रा उस सीमा तक पहुँची हुई थी, जिसे कुछ लोग अनधिकार-चेष्टा कहते हैं। उनका एक कार्य यह था कि वे प्रायः इस खोज में घूमा करते थे कि उनके भोले-भाले और निःसहाय भाइयों पर सरकारी कर्मचारी अत्याचार तो नहीं करते। यदि उन्हें कोई ऐसा मामला मिल जाता, तो वे कर्मचारियों को क़ानूनी शिकंजे में लेकर उन्हें पूरा दंड दिलाने की चेष्टा किया करते थे। उन्हें कभी-कभी इस कार्य में सफलता भी होती थी।

एक दिन बाबू साहब प्रातःकाल घूमने निकले और शहर के बाहर की ओर चले गए। बाबू साहब प्रातःकाल की मंद-मंद वायु का आनंद लेते चुंगीघर के निकट पहुँचे। चुंगीघर के सामने छः-सात अनाज की देहाती गाड़ियाँ, जो शहर की ओर आ रही थीं, खड़ी थीं। बाबू साहब गाड़ियों के पास से होकर जा रहे थे, उसी समय उनके कान में एक देहाती के ये वाक्य पड़े—"अरे भाई, फिर क्या किया जाय, जबर मारे और रोने न दे, दें न तो क्या करें? दो-चार आने की ख़ातिर यहाँ बारह बजे तक भूखे-प्यासे पड़े रहें? काम का हरजा करें? देना ही पड़ता है। कहें भी, तो किससे? ग़रीबों की कौन सुनता है?"

यह वाक्य सुनकर बाबू साहब के कान खड़े हुए। समझे कि यहाँ गहरा मामला है। गाड़ीवाले के पास जाकर बोले—क्यों भाई, क्या बात है?

गाड़ीवाले ने कुछ क्षण तक बाबू साहब को सर से पैर तक देखा। तत्पश्चात् लापरवाही से बोला—साहब कोई बात हो, समय पड़े दो-चार आने का मुँह नहीं देखना चाहिए।

बाबू साहब—आख़िर बात क्या है, कुछ बतलाओ तो।

गाड़ीवाला—अरे साहब, क्या बतावें? ऐसी बातें तो रोज़ ही हुआ करती हैं, किसे-किसे बतावें और कहाँ तक बतावें।

बाबू०—नहीं सो बात नहीं, तुम हमसे बताओ, हम उसकी दवा कर देंगे।

गाड़ीवाले ने एक बार फिर बाबू साहब को सर से पैर तक देखा, और पास ही खड़े हुए एक दूसरे गाड़ीवान की ओर देखकर मुसकिराया। दूसरा गाड़ीवाला बोला—अरे बाबूजी, अब उस बात के कहने से क्या फ़ायदा, जो होना था, सो हो गया।

बाबू०—यही तो तुम लोगों में दोष है। तुम लोग अत्याचार सहना पसंद करते हो, पर उसको दूर करने की चेष्टा नहीं करते, इसीलिये तुम्हें जो चाहता है, दबा लेता है।

गाड़ीवाला—अरे साहब, फिर क्या करें? ग़म खाना अच्छा है। दो-चार आने के लिये कौन झगड़ा करे। दो-चार आने में हम कुछ मर नहीं जायँगे और वह कुछ लखपती नहीं हो जायँगे। एक बात-की-बात है। हाँ, इतना बुरा मालूम होता है कि दिक़ करके लेते हैं।

बाबू साहब समझ गए कि चुंगीवालों ने कुछ ऐंठा है। उधर गाड़ीवाले बाबू साहब से यह बात कहना नहीं चाहते थे, क्योंकि वे उसमें कोई लाभ नहीं समझते थे। पर मनुष्य की प्रकृति के अनुसार कहने की इच्छा न होते हुए भी सहानुभूति के आगे अपने हृदय की उमड़ास रोकने में असमर्थ होकर क्रमशः सब उगल रहे थे।

बाबू साहब ने कहा—देखो, इस बात का छिपाना ठीक नहीं। यदि तुम लोग हमसे सब बात साफ़-साफ़ कह दो और थोड़ा-सा

साहस कर जाओ, तो तुम लोगों का यह दुःख सदैव के लिये दूर हो जाय। अपने लिये नहीं, तो अपने उन सैकड़ों भाइयों के लिये, जिन्हें इसी प्रकार की मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं, तुम्हें यह काम अवश्य करना चाहिए। थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय कि तुम्हें यह नहीं अखरता, परंतु तुम्हारे-से अनेक भाई ऐसे हैं, जिन्हें इससे बड़ा दुःख होता होगा।

गाड़ीवाला कुछ उत्तेजित होकर बोला—बाबूजी अरखता क्यों नहीं, हमें भी जैसा अखरता है वह हमीं जानते हैं। पर क्या करें, कलेजा मसोसकर रह जाते हैं। किससे कहें? कोई सुननेवाला भी तो हो?

बाबू साहब—इसीलिये तो हम कहते हैं कि तुम सब हाल हमसे कहो, फिर देखो हम क्या करते हैं।

गाड़ीवाला बोला—बात यह है कि हम सबेरे चार बजे से यहाँ पड़े हैं। अब सात-आठ बजे होंगे। सबेरे हमने चुंगी के बाबू से कहा कि चुंगी ले लो और रसीद दे दो, हमें जल्दी है। बाज़ार के समय पहुँच जायँगे, तो आज ही छुट्टी मिल जायगी, नहीं कल तक पड़ा रहना पड़ेगा। बाबूजी, आप जानते हैं कि आजकल फ़सल के दिन हैं, यहाँ पड़े रहने में हर्ज होता है। चुंगी के बाबू बोले, अभी ठहर जाओ, हमें छुट्टी नहीं है। हम थोड़ी देर रुक गए। बाबू साहब को कोई काम नहीं था, मज़े से बैठे बातें कर रहे थे। थोड़ी देर में हमने फिर कहा, तो डाँटकर बोले—अभी रसीद नहीं मिलेगी। हमने हाथ-पैर जोड़े, तब बोले, जल्दी है तो कुछ नज़राना दिलाओ, नहीं तो दस बजे तक पड़े रहो, दस बजे के पहले नहीं जाने पाओगे।

ख़ैर साहब, हमने चार आने दिए, पर चार आने में राज़ी न हुए, एक रुपया माँगने लगे। अब आप ही बताइए, हम ग़रीब आदमी एक रुपया कहाँ से लावें। चुंगी अलग दें और इन्हें अलग दें। ख़ैर, हमने कहा कि एक रुपया तो हम नहीं दे सकते। इस पर वे बिगड़कर कहने लगे कि नहीं दे सकते तो जाओ, जाके बैठो वहीं। तब हमने

सोचा कि यहाँ पड़े रहने से बड़ा हर्जा होगा, दो-चार आने ग़म खाओ। ख़ैर, हमने आठ-आठ आने दिए और बहुत हाथ-पैर जोड़े, तब कहीं वे रसीद देने पर राज़ी हुए।

बाबू०—रसीद मिल गई ?

गाड़ी०—हाँ, अभी दी है।

बाबू०—और यह लोग क्या-क्या करते हैं ?

गाड़ी०—करते तो साहब न-जाने क्या-क्या हैं, पर हमें जल्दी है, बाज़ार का समय है।

बाबू०—चलो, हम भी तुम्हारे साथ-साथ चलते हैं। हाँ, जो-जो यह करते हों, हमें सब बताओ।

गाड़ीवालों ने गाड़ियाँ हाँकीं। बाबू साहब भी साथ-साथ चले।

गाड़ीवाले ने कहना आरंभ किया—गाड़ी-पीछे दो-चार सेर जिन्स (माल) निकाल लेना तो कोई बड़ी बात नहीं, यह तो सभी के साथ करते हैं। जो कोई नहीं देता उसे बहुत दिक़ करते हैं, चुंगी अधिक लगा लेते हैं, गालियाँ देते हैं। कभी-कभी मार भी बैठते हैं।

बाबू०—और तुम लोग यह सब सह लिया करते हो ?

गाड़ी०—सहें न तो क्या करें ? एक दिन की बात हो तो न सहें। हमारा तो इधर आना-जाना लगा ही रहता है। बैर बाँधें, तो और भी दिक़ करें, इससे ग़म खाते रहते हैं।

बाबू०—यदि तुम लोग हमारी सहायता करने को कहो, तो हम इन्हें मज़ा चखा दें।

गाड़ी०—अरे साहब, कौन झंझट में पड़े। अदालत जाते योंही डर लगता है। काम का हर्जा करें, दौड़े-दौड़े फिरें, और जो कोई उलटी-सीधी बात पड़ गई, तो उलटे हमीं मारे जायँ।

बाबू०—एक-दो दिन काम का हर्जा करना अच्छा कि तीसों

दिन का ? दो-चार दिन काम का हर्ज होगा, पर यह तीसों दिन का पट्राग तो मिट जायगा। और, इस बात का हम ज़िम्मा लेते हैं कि तुम्हारे ऊपर ज़रा भी आँच नहीं आने पाएगी।

गाड़ी०—यह तो ठीक है, पर—

बाबू०—तुम लोग इतना डरते हो, इसीलिये तो यह सब बातें बढ़ती जाती हैं। हम नहीं समझते कि इसमें डरने की क्या बात है। तुम्हें केवल इतना काम करना होगा कि जो कोई अफ़सर पूछे, तो ये बातें सब कह देना।

गाड़ीवाले ने अपने साथियों की ओर इशारा करके कहा—यह सब राज़ी हों, तो हम भी राज़ी हैं।

बाबू०—यह तो राज़ी हो ही जायँगे, नहीं तो तुम उन्हें राज़ी करने की चेष्टा करो। अच्छा तुम्हें बाज़ार से कब छुट्टी मिल जायगी ?

गाड़ी०—यही कोई ग्यारह-बारह बजे तक।

बाबू०—किस आढ़त में ले जाओगे ?

गाड़ीवाले ने एक आढ़त की दूकान का नाम बताया।

(२)

बाबू साहब ने बहुत समझा-बुझाकर दस-बारह गाड़ीवानों को राज़ी किया और उनसे मजिस्ट्रेट की अदालत में इस्तग़ासा दिलवा दिया कि चुंगी के बाबू ने उन्हें तंग किया, बिना काम रोक रक्खा और सबसे आठ-आठ आने रिश्वत ले लेकर तब उन्हें रसीद दी। चुंगी-क्लर्क पर मुक़दमा क़ायम हो गया। बाबू शिवकुमार ने अपनी गवाही लिखाई थी। इसके अतिरिक्त गाड़ीवानों ने भी अपने गाँव के तथा आस-पास के चार-छः आदमियों की गवाहियाँ लिखाई थीं।

उचित समय पर चुंगी-क्लर्क रामधन का विचार हुआ। रामधन से सफ़ाई माँगी गई; पर वे उचित सफ़ाई न दे सके। अतएव उन्हें छः मास की क़ैद तथा पचास रुपए जुर्माने का दंड मिला।

बाबू शिवकुमार के मित्र पं० राधाकांत ने उनसे पूछा—कहो, उस केस में क्या हुआ ?

शिवकुमार बड़े अभिमान-पूर्वक बोले—हुआ क्या, सज़ा दिलाके छोड़ा। मैंने तो प्रण कर लिया है कि ऐसे अत्याचारियों को ढूँढ-ढूँढकर जेल भिजवाऊँगा।

राधाकांत—क्या सज़ा मिली ?

शिवकुमार—छः महीने की क़ैद और पचास रुपए जुर्माना।

राधाकांत—जुर्माना दाख़िल हो गया ?

शिवकुमार—हाँ, दाख़िल हो गया। यार उसके घर में तो भूँजी भाँग भी न निकली। इतनी रिश्वतें लेते हैं, पर न-जाने वह सब कहाँ चली जाती हैं। उसकी स्त्री ने अपने आभूषण बेंचकर जुर्माना दाख़िल किया।

राधाकांत—उसकी ओर से पैरवी अच्छी नहीं हो सकी ?

शिवकुमार—पैरवी करनेवाला था कौन ? एक बूढ़ा बाप है, जो चल-फिर भी नहीं सकता। एक स्त्री है और दो बच्चे।

राधाकांत—और कोई नहीं है ?

शिवकुमार—और कोई नहीं।

राधाकांत के मुख पर मलिनता दौड़ गई। उन्होंने सर झुका लिया। बड़ी देर तक सर झुकाए चुपचाप बैठे रहे।

शिवकुमार बोले—अब बचा सदैव के लिये ठीक हो जायँगे।

राधाकांत ने सर उठाया। कुछ क्षण तक शिवकुमार की ओर देखकर बोले—आपने यह काम क्यों किया ?

शिवकुमार—क्यों किया ? किया देश-भक्ति के नाते, अपने भाइयों को अत्याचार से बचाने के लिये।

पं० राधाकांत मुसकिराए। उस मुसकिराहट में कुछ घृणा थी, कुछ अविश्वास था। शिवकुमार यह बात ताड़ गए। अतएव बोले—क्यों, आप मुसकिराए क्यों ?

राधाकांत—किसान जितने आपके भाई हैं, उतना ही रामधन भी आपका भाई है, यह बात आपको माननी पड़ेगी।

शिवकुमार—हाँ, मैं मानता हूँ।

राधाकांत—आपने यह भी सोचा कि उसके जेल चले जाने से उसके निःसहाय परिवार की क्या दशा होगी?

शिवकुमार—क्या होगी?

राधाकांत—और क्या, आप ही के कथन से मालूम हुआ कि अपने परिवार का पालन-पोषण करनेवाला केवल वही था। ऐसी दशा में अब उसके परिवार का पालन-पोषण कौन करेगा?

शिवकुमार के हृदय पर राधाकांत की बात का गहरा प्रभाव पड़ा। राधाकांत कहते गए—यह मैं मानता हूँ कि रामधन के व्यवहार से किसानों को कष्ट पहुँचता था, परंतु आपने रामधन और उसके परिवार को उससे कहीं अधिक कष्ट पहुँचाया है। केवल इतना ही नहीं, आपने उस बेचारे का जीवन नष्ट कर दिया। उसका परिवार भूखों मरेगा। रामधन जेल से छूट भी आवेगा, तब भी सज़ायाफ़्ता होने के कारण न तो उसे सरकारी नौकरी ही मिलेगी और न उसे कोई भला आदमी ही, जिसे उसके सज़ायाफ़्ता होने की बात मालूम हो जायगी, अपने यहाँ काम देगा? ऐसी दशा में उसका जीवन नष्ट हो गया या रहा?

बाबू शिवकुमार को अपनी भूल का कुछ ज्ञान हुआ, पर वे अभी अपनी भूल स्वीकार करने के लिये प्रकट रूप से प्रस्तुत न थे। अतएव उन्होंने कहा—तो क्या आपका मंशा है कि उसे किसानों पर अत्याचार करते रहने देता?

राधाकांत—मैं यह नहीं कहता। मैं तो केवल यह कहता हूँ कि यह सच्ची देश-भक्ति नहीं। देश-भक्त का यह कर्तव्य है कि वह समस्त देश-वासियों के कष्टों का ध्यान रक्खे। इसके क्या अर्थ हैं कि

एक को कष्ट से बचाया जाय और दूसरे को कष्ट में डाल दिया जाय ? देश-भक्त के लिये तो सब बराबर हैं। उसे तो सबके कष्टों का ध्यान रखना चाहिए।

शिवकुमार—यह तो एक ख़ास केस ऐसा आ पड़ा कि रामधन के परिवार का पालन-पोषण करनेवाला कोई दूसरा नहीं, परंतु सब हालतों में तो ऐसा नहीं होता।

राधाकांत—यह माना। परंतु उन हालतों में भी मानसिक कष्ट अवश्य होता है। जिसका बाप, भाई या पति जेल जायगा, उसे मानसिक कष्ट तो अवश्य ही होगा—यह आप मानते हैं या नहीं ?

शिवकुमार—हाँ, मानूँगा क्यों नहीं, पर इसके अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो नहीं।

राधाकांत—आप एक बेर रामधन को समझाकर, धमकाकर, इस अनुचित काम से रोकने की चेष्टा करते।

शिवकुमार—ओहो ! यही तो आप जानते नहीं, इसीलिये आप ऐसा कहते हैं। ऐसे आदमी न समझाने से मानते हैं, न धमकाने से। यदि डर से मान भी गए, तो कुछ दिनों के लिये। जहाँ उन्हें यह निश्चय हो गया कि कोई कुछ करे-धरेगा नहीं, बस, फिर वही काम करने लगते हैं।

राधाकांत—यदि गाँठ कुछ परिश्रम से खुल सकती है, तो उसे काट डालना कभी उचित नहीं।

शिवकुमार—पर खुले जब न ?

राधाकांत—खुल सकती है। फ़ारसी में एक कहावत है—"लुत्फ़ कुन लुत्फ़ कि बेगाना शवद, हल्क़ः बगोश।" इसका यह अर्थ है कि नर्मी और सद्व्यवहार से ग़ैर भी अपने हो जाते हैं।

शिवकुमार—यह कहावत रामधन-ऐसे लोगों पर लागू नहीं हो सकती।

राधाकांत—सब पर लागू हो सकती है, लागू करने का ढंग होना चाहिए। न भी हो तब भी पहले चेष्टा करके देख लेना चाहिए। मेरा विश्वास है कि सौ में नब्बे हालतों में यह लागू हो सकती है।

शिवकुमार—मैं इसे नहीं मानता।

राधाकांत—मैं दिखा दूँगा। परंतु इसके पहले ज़रा रामधन के परिवार की सुध लेना तुम्हारा कर्तव्य है।

(३)

दूसरे दिन बाबू शिवकुमार से मिलने पर पं० राधाकांत ने पूछा—कहो, रामधन के परिवार की सुध ली, उनकी दशा देखी?

शिवकुमार ने सर झुकाकर कहा—देखी।

राधाकांत—क्या दशा है?

एक दीर्घ निःश्वास लेकर बोले—क्या कहूँ, न कहना ही अच्छा है। यदि मुझे मालूम होता, तो मैं रामधन को फँसाने की चेष्टा कभी न करता। किसानों को जितना कष्ट था, वह उन्हें इतना असह्य नहीं था, जितना असह्य रामधन के परिवार को उनका वर्तमान कष्ट है। उसका बाप रात-दिन बैठा रोया करता है। स्त्री की भी दशा कहने योग्य नहीं। छोटे-छोटे बच्चों को खाने का ठिकाना नहीं। जो कुछ थोड़ा-बहुत था, वह मुक़द्दमे में ख़र्च हो गया, कुछ ज़ेवर जुर्माना अदा करने में चला गया। दो-चार चाँदी की चीज़ें बची हैं, उन्हें स्त्री सुहाग के आभूषण समझकर बेचना नहीं चाहती थी। मुझे पड़ोसवालों से मालूम हुआ कि दो रोज़ उपवास करने के पश्चात् रामधन की स्त्री पैर के कड़े बेचने पर राज़ी हुई। उफ़! कितना करुणा-पूर्ण दृश्य है। शरीफ़ आदमी किसी से माँग नहीं सकते। दो-चार छोटे-मोटे ज़ेवर हैं, वे दो-तीन महीने भी तो पूरा नहीं पाट सकते। उनके समाप्त हो जाने पर वे क्या खायँगे?

राधाकांत—यह आपकी देश-भक्ति है।

शिवकुमार—क्या कहूँ, मैं तो स्वयं लज्जित हूँ। पर इतना मैं अवश्य कहूँगा कि इसके अतिरिक्त और कोई उपाय भी नहीं था।

राधाकांत—ख़ैर, यह तो अवसर पड़े मालूम होगा। अच्छा, अब एक काम कीजिएगा। अब यदि कहीं कोई ऐसा मामला मिले, तो मुझसे परामर्श ले लीजिएगा।

शिवकुमार—अवश्य, मुझे भी देखना है कि आप किस प्रकार गाँठ को बिना काटे ही सुलझाते हैं।

❀ ❀ ❀

बाबू शिवकुमार राधाकांत से बोले—दो महीने पूर्व आपने मुझसे कहा था कि यदि कोई रामधन का-सा केस मिले, तो मैं आपसे परामर्श ले लूँगा।

राधाकांत—हाँ, कहा था।

शिवकुमार—वैसा ही एक मामला है।

राधाकांत—कहिए।

शिवकुमार—स्टेशन पर थर्ड क्लास के बुकिंग क्लर्क (टिकिट बाँटनेवाले बाबू) मुसाफ़िरों को बहुत तंग करते हैं। जो कुछ नज़र दे देता है, उसे तो तुरंत टिकिट दे देते हैं; जो नहीं देता, उसे नहीं देते। कभी कह देते हैं, रुपया ख़राब है, इसे बदलो। कभी कह देते हैं, पैसे नहीं हैं, रुपया तुड़ा लाओ। बाबुओं से कांस्टेबिल भी मिले हुए हैं। कोई मुसाफ़िर उनसे शिकायत करता है, तो कह देते हैं कि "हम क्या करें? बाबू को कुछ दे दो, टिकिट मिल जायगा।" बेचारे मुसाफ़िर ट्रेन छूट जाने के डर से उन्हें कुछ-न-कुछ पूजकर टिकिट ले लेते हैं।

राधाकांत—क्या सबके साथ यही व्यवहार करते हैं?

शिवकुमार—सबके साथ तो भला क्या कर सकते हैं। हाँ, बे-पढ़े ग़रीब आदमियों और देहातियों के साथ करते हैं।

राधाकांत—आपने इस संबंध में क्या करना निश्चय किया है?

शिवकुमार—मैंने अभी कुछ निश्चय नहीं किया, आप ही निश्चय कीजिए।

राधाकांत—अच्छा कल चलेंगे।

दूसरे दिन शिवकुमार और राधाकांत स्टेशन पर पहुँचे।

मुसाफ़िरों के टिकिट लेते समय जो बात बाबू शिवकुमार ने कही थी, वही देखने में आई। ये दोनों खड़े चुपचाप देखते रहे। जब किसी-न-किसी प्रकार सब मुसाफ़िर टिकिट लेकर चले गए और गाड़ी छूटने में केवल पाँच मिनिट रह गए, तब पं० राधाकांत ने अपने नौकर को एक दूर के स्टेशन का टिकिट लेने के लिये भेजा और स्वयं खिड़की से कुछ दूर पर खड़े हो गए। नौकर सिखाया-पढ़ाया था। उसने खिड़की के पास जाकर घबराहट दिखाते हुए उक्त स्टेशन का टिकिट माँगा।

बाबू ने बिगड़कर कहा—अभी तक क्या सोते थे? रेल क्या तुम्हारे बाप की नौकर है, जो तुम्हारे लिये खड़ी रहेगी? जाओ टिकिट नहीं मिलेगा।

नौकर ने बड़े दीन भाव में कहा—बाबूजी, बड़ा ज़रूरी काम है। रेल न मिलेगी, तो मर जायँगे। दे दीजिए, भगवान् आपका भला करेगा।

बाबू—ज़रूरी काम है, तो दूना महसूल देना पड़ेगा।

नौकर—दूना महसूल!

बाबू—हाँ दूना।

नौकर तो सिखाया-पढ़ाया था ही—उसने पहले कुछ आपत्ति करने के पश्चात् दूना किराया दे दिया और टिकिट लाकर राधाकांत को दिया।

राधाकांत टिकिट लेकर खिड़की पर पहुँचे और बाबू से बोले—क्यों साहब, इसका आपने दूना किराया क्यों चार्ज किया?

बाबू साहब कुछ क्षण के लिये सिटपिटा गए; परंतु फिर सँभल गए और बिगड़कर बोले—दूना किराया कैसा ?

राधाकांत—मैंने अभी अपने नौकर को टिकिट लेने के लिये भेजा था, आपने उससे दूना किराया लेकर टिकिट दिया।

बाबू—आप झूठ बोलते हैं।

राधाकांत—क्या झूठ ?

बाबू—हाँ झूठ। हम लोग ऐसा कभी नहीं कर सकते। दिन-भर हज़ारों मुसाफ़िर आते हैं, यदि हम ऐसा करें, तो रहने न पाएँ। आप एक शरीफ़ आदमी पर इल्ज़ाम लगाते हैं ?

राधाकांत हँसकर बोले—तो क्या आपने दूना किराया नहीं लिया ?

बाबू—कदापि नहीं।

राधाकांत ने एक काग़ज़ निकाला जिस पर कुछ नक़ली हस्ताक्षर बने हुए थे। उसे बाबू साहब को दिखाकर बोले—देखिए, यह उन सब लोगों के हस्ताक्षर हैं, जिनसे आपने अभी-अभी ज़्यादा चार्ज किया है। आप यह काम बहुत दिनों से कर रहे हैं, इसलिये मैंने यह प्रबंध किया। अब यह केस स्टेशनमास्टर के सामने पेश किया जायगा।

इतना सुनते ही और काग़ज़ देखकर बाबू साहब के होश उड़ गए। बोले—मुआफ़ कीजिए।

राधाकांत—मुआफ़ ! अभी आपने मुझे ही आड़े हाथों ले डाला। झूठा बनाने की चेष्टा की और अब मुआफ़ी माँगते हैं ?

बाबू साहब शर्म से सर झुकाकर बोले—निःसंदेह मुझसे बड़ा अपराध हुआ, परंतु अब आप दया कीजिए। सच जानिए, मैं किसी काम का न रहूँगा, बेमौत मर जाऊँगा।

राधाकांत—पर आप तो हरएक के साथ यही व्यवहार करते हैं।

बाबू—बाबूजी, जो कुछ हुआ सो हुआ, अब आप क्षमा करें। आगे यह काम कभी न होगा।

राधाकांत—क्या आप सच कहते हैं?

बाबू—सच ही नहीं, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ।

राधाकांत—पर मुझे विश्वास कैसे हो?

बाबू—मैं क़सम खाता हूँ कि यदि आगे कभी ऐसा करूँ, तो...

राधाकांत—मुझे आप पर विश्वास है और पूरी आशा है कि आप-ऐसा भला आदमी अपनी क़सम का पूरा ध्यान रक्खेगा। भूल हरएक मनुष्य से होती है, पर जो अपनी भूल मान लेते हैं और आगे सतर्क रहते हैं, वे सच्चे शरीफ़ हैं।

राधाकांत ने बड़ी देर तक बाबू साहब को समझाया, हर प्रकार ऊँच-नीच दिखाए, उनके इस व्यवहार से ग़रीबों को जितना कष्ट होता है, उसका चित्र खींचा।

इसके पश्चात् उन्होंने वह काग़ज़ फाड़ डाला और बाबू साहब से हाथ मिलाकर बोले—देखिए, एक बार मैं फिर सच्चे मित्र की हैसियत से आपको यह सलाह देता हूँ कि आप न तो यह काम स्वयं करें और न अपने सामने किसी दूसरे को करने दें।

बाबू साहब की आँखों में आँसू भर आए। उन्होंने गद्गद कंठ से कहा—ईश्वर चाहेगा, तो ऐसा ही होगा।

राधाकांत शिवकुमार के साथ घर की ओर चल दिए। रास्ते में राधाकांत ने पूछा—कहिए, अब आपको विश्वास हुआ?

शिवकुमार—हाँ, इस समय तो उसकी बातों से यही मालूम होता है कि न करेगा, परंतु यदि अब भी करे?

राधाकांत—तब भी मैं एक बार और उसे सचेत करूँगा।

शिवकुमार—और यदि तब भी करे?

राधाकांत—ऐसे आदमी, विशेषतः जिन्हें अपनी आबरू का कुछ

भी ख़याल है, दो-तीन बार सचेत किए जाने पर न करेंगे। जब तक मनुष्य की आँखों का पानी नहीं ढलता, तब तक वह सरलता-पूर्वक सुधर सकता है, परंतु आँखों का पानी ढल जाने से उसका सुधार बड़ा कठिन हो जाता है।

शिवकुमार—यह कैसे मान लिया जाय कि इसकी आँख का पानी नहीं ढला।

राधाकांत—इसलिये कि इसका पाप प्रकट नहीं हुआ। जब तक मनुष्य का पाप छिपा रहता है, तब तक उसकी आँखों का पानी नहीं ढलता, परंतु जब उसका पाप सब पर प्रकट हो जाता है, तब उसकी आँखों का पानी ढल जाता है और ऐसे आदमी का सुधार कठिन हो जाता है। केवल एक यही बात कि "हमारे पाप को सब लोग न जान जायँ" मनुष्य को आगे के लिये पाप करने से रोकती है।

शिवकुमार—हाँ यह ठीक है और यह मैं मानता हूँ कि इस युक्ति से अधिकांश सफलता मिल सकती है।

वह—कैसे ? यह गाड़ी तो सहारनपुर लौट जायगी।

टि०-क०—आप अभी समझे नहीं। देखिए, मेल लखनऊ नहीं जा सकती; पर सहारनपुर लौट सकती है। इसी प्रकार पैसेंजर लखनऊ वापस जा सकती है। इसलिये यह प्रबंध किया गया है कि इस मेल को पैसेंजर बनाकर सहारनपुर लौटा दिया जाय और उस पैसेंजर को मेल बनाकर लखनऊ वापस किया जाय। इसलिये इस मेल के मुसाफ़िर पैसेंजर में जायँगे और पैसेंजर के मुसाफ़िर इस मेल में आवेंगे। अब आप समझ गए ?

वह महाशय कुछ घबराकर बोले—हाँ, समझ तो गया, पर पैसें-जर कितनी दूर है ?

टि०-क०—होम-सिगनेल के पास है, यहाँ से कोई डेढ़ फ़र्लांग का फ़ासला होगा।

वह—तो उतनी दूर असबाब कैसे जायगा ? कोई कुली भी तो नहीं दिखाई पड़ता, न-जाने सब आज कहाँ मर गए।

टिकिट-कलेक्टर ने कहा—कुली तो एक भी ख़ाली नहीं है। वे इस ट्रेन के पार्सल और डाक ढो-ढोकर पैसेंजर में पहुँचा रहे हैं और पैसेंजर के पार्सल इसमें ला रहे हैं।

वह महाशय कुछ बिगड़कर बोले—रेलवे कुलियों से अपना काम ले रही है; पर मुसाफ़िरों का कुछ ख़याल नहीं।

टिकिट-कलेक्टर ने कहा—वह काम बहुत ज़रूरी है जनाब, मेल का जाना नहीं रुक सकता। मुसाफ़िर तो आगे-पीछे भी जा सकते हैं। आप अगर असबाब ले जा सकते हों, तो ले जाइए, नहीं तो यहीं पड़े रहिए। जब लाइन साफ़ हो जाय और कोई दूसरी ट्रेन उधर जाय, तब उसमें चले जाइएगा। परंतु लाइन आठ-दस घंटे के पहले साफ़ न हो सकेगी।

यह कहकर टिकिट-कलेक्टर एक ओर चला गया। वह महाशय

बड़े परेशान हुए। क्या करें, क्या न करें। उन्होंने गाड़ी में बैठी हुई अपनी पत्नी से कहा—अब क्या करना चाहिए? कुली कोई है नहीं, और असबाब काफ़ी है, वहाँ तक कैसे पहुँचेगा?

पत्नी—न हो, यहीं पड़े रहो। जब कोई दूसरी गाड़ी जाय, तब उसमें चले चलना।

वह—आठ-दस घंटे पड़े रहना पड़ेगा। इस तरह तो दस-ग्यारह बजे तक लखनऊ पहुँच जायँगे। ख़ाली असबाब की दिक़्क़त है। असबाब किसी तरह वहाँ तक पहुँच जाता, तो—अच्छा देखो, मैं किसी कुली को देखता हूँ।

यह कहकर वह प्लेटफ़ार्म पर इधर-उधर कुली की तलाश करने लगे। तीन-चार कुली फ़र्स्ट तथा सेकिंड क्लास के मुसाफ़िरों का असबाब ढो रहे थे। उनमें से एक से उन्होंने कहा—क्यों भाई, हमारा असबाब भी पहुँचा दोगे?

कुली—अभी छुट्टी नहीं है, बाबू। साहब लोगों का असबाब पहले पहुँचा दें, तब देखा जायगा।

वह—अरे भाई, जो मज़दूरी साहब लोग दें, वही हमसे भी ले लेना।

कुली—मजूरी की कोई बात नहीं, टेसन-मास्टर खफा होंगे। उनका हुकुम है कि पहले साहब लोगों का असबाब पहुँचाओ।

उक्त महाशय मन-ही-मन बड़े क्रुद्ध हुए। स्टेशन-मास्टर की तो सूरत से उन्हें नफ़रत हो गई। साहब लोगों के सौभाग्य पर ईर्षा और अपने दुर्भाग्य पर क्षोभ भी हुआ। सोचने लगे—समय की बात है। रुपया-पैसा सब ख़र्चने को तैयार हैं, फिर भी कंबख़्त कुली नहीं नसीब होता। इस समय उन्हें उन लोगों पर भी ईर्षा होने लगी, जिनके इतनी हिम्मत और इतना बल था कि वे अपना असबाब सिर पर लादे दौड़े चले जा रहे थे। अपने मन में कहा—हमसे तो ये ही

अच्छे ! किसी की सहायता के मुहताज तो नहीं हैं। वह इधर-उधर घूमकर लौट आए और पत्नी से बोले—कुली तो कोई नहीं है। जो दो-एक हैं भी, वे साहब लोगों का असबाब ढो रहे हैं। गोरे चमड़े के आगे काले हिंदोस्तानियों को कौन पूछता है। ख़ैर, गाड़ी से तो उतरो।

बेचारी स्त्री गाड़ी से उतरी। उसके साथ एक लड़की भी उतरी, जिसकी अवस्था १४-१५ वर्ष की होगी। लड़की अत्यंत रूपवती थी। उसके मुख की आकृति कुछ-कुछ उक्त महाशय से मिलती थी। लड़की ने कहा—भैयाजी, असबाब कैसे उतरेगा ?

वह महाशय जोश में आकर बोले—मैं ही उतारूँगा।

वह गाड़ी में चढ़ गए। काँख-कूँखकर तीन ट्रंक और एक बिस्तर का पुलिंदा नीचे प्लेटफ़ार्म पर रक्खा। असबाब उतारकर रूमाल से माथे का पसीना पोछते हुए कहने लगे—क्या कहें, बेकार यहाँ पड़े रहना पड़ेगा। इस समय यह असबाब खल गया। उसी समय एक सुंदर तथा बलिष्ठ युवक, जिसकी उम्र २३-२४ वर्ष के लगभग होगी, दौड़ता हुआ आया और बोला—महाशय, इस गाड़ी में मेरा छाता रह गया है, आपने तो नहीं देखा ?

वह—जी नहीं, मैंने तो नहीं देखा। आप गाड़ी में देख लीजिए।

नवयुवक गाड़ी में चढ़ गया और ऊपर के एक बर्थ से छाता उठा लाया।

वह महाशय बोले—क्यों साहब, मिल गया ?

नवयुवक—जी हाँ। बड़ी ख़ैर हुई, किसी मुसाफ़िर की नज़र नहीं पड़ी, नही तो लेकर चल देता। कहिए, आप कैसे खड़े हैं ? क्या पैसेंजर से आए हैं ?

वह महाशय तो भरे हुए खड़े ही थे। सहानुभूति की आशा से उन्होंने कहा—क्या कहें साहब, पैसेंजर में जाना चाहते हैं; पर असबाब ले जाने को कोई क़ुली नहीं मिलता।

नवयुवक—आप कहाँ जायँगे ?

वह—लखनऊ ।

नवयुवक—लखनऊ तो मैं भी जा रहा हूँ । गाड़ी आध घंटे में छूट जायगी ।

वह महाशय विषाद-पूर्ण स्वर से बोले—क्या करें, मजबूरी है ।

इसी समय पैसेंजर के मुसाफ़िर आकर मेल-ट्रेन में भरने लगे ।

नवयुवक कुछ देर तक खड़ा सोचता और उन महाशय के असबाब की ओर देखता रहा । तत्पश्चात् बोला—मैं आपका असबाब पहुँचा दूँगा । आप यहाँ स्त्रियों के पास खड़े रहें, मैं एक-एक करके सब चीज़ें पहुँचाए देता हूँ । मेरे एक मित्र वहाँ बैठे हैं । उनको असबाब ताकने के लिये खड़ा कर दूँगा । वह वहाँ रहेंगे, आप यहाँ रहिए, और मैं सब चीज़ें पहुँचा दूँगा । वह महाशय कुछ मुसकिराकर बोले—इस सहानुभूति के लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ ; परंतु आप क्यों कष्ट करेंगे, मैं दूसरी गाड़ी से चला आऊँगा ।

नवयुवक—दूसरी गाड़ी कहीं रात को जायगी, तब तक आप यहाँ पड़े रहेंगे ? बड़ी तकलीफ़ होगी !

उन महाशय ने कहा—जी हाँ, तकलीफ़ तो होगी ही ; पर क्या किया जाय ?

नवयुवक—तो आप तकलीफ़ क्यों उठावेंगे ? मैं जब असबाब ले जाने के लिये तैयार हूँ, तब आपको क्या आपत्ति है ? यह विश्वास रखिए, मुझे ज़रा भी कष्ट न होगा । शरीर में यथेष्ट बल है । हाँ, एक बात अवश्य है । यदि आपको मुझ पर विश्वास न हो, तो दूसरी बात है ।

बात भी यही थी । वह महाशय यही सोच रहे थे कि कौन जाने यह कौन है । उठाईगीरे और ठग भी प्रायः भले आदमियों के वेष में रहते हैं । परंतु जब नवयुवक ने बहुत निर्भीकता-पूर्वक स्वयं

भोलेपन के साथ उक्त बात कही, तो उन महाशय को कुछ-कुछ विश्वास हो गया। वह बोले—नहीं विश्वास क्यों नहीं है। मैं यह सोच रहा हूँ कि आपको क्यों कष्ट दूँ।

'मुझे कोई कष्ट नहीं' कहकर नवयुवक ने तुरंत अपना छाता प्लेट-फ़ार्म पर डाल दिया और झट एक ट्रंक उठाकर कंधे पर रख लिया, और लेकर चल दिया। वह महाशय मुँह ताकते रह गए।

पत्नी ने कहा—न-जाने कौन है, कौन नहीं। वाह! तुमने मना भी नहीं किया? कौन ऐसी जल्दी पड़ी है, रात को चले चलेंगे। अरे उसके पीछे जाओ, उस ट्रंक में मेरे और चमेली के गहने हैं। तुम्हारी तो जैसे सिट्टी-पिट्टी भूली हुई है। जल्दी दौड़ो, कहीं लेकर चल न दे।

पर पति महाशय ने भी दुनिया देखी थी। उन्होंने कहा—तुम तो सब को चोर ही समझती हो। यह कोई शरीफ़ आदमी है। ऐसा कभी नहीं कर सकता कि लेकर चल दे।

यद्यपि उन्हें विश्वास था कि नवयुवक कोई भला आदमी है, तथापि उनका हृदय धड़क रहा था। ईश्वर पर भरोसा किए चुपचाप खड़े देखते रहे। थोड़ी देर में नवयुवक लौट आया, और दूसरा ट्रंक ले गया। वह महाशय पत्नी से बोले—तुम समझती थीं, चोर है। जो चोर होता, तो लौटकर आता?

पत्नी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर में नवयुवक फिर लौट आया, और तीसरा ट्रंक भी उठाकर ले चला। इस बार उक्त महाशय ने बिस्तर का पुलिंदा उठाकर अपने कंधे पर रख लिया, और अपनी पत्नी तथा बहन को साथ लेकर नवयुवक के पीछे चले।

(२)

उपर्युक्त घटना को हुए छः मास व्यतीत हो गए। ऊपर जिन महाशय का हाल लिखा गया है, उनका नाम मोहनलाल है। आप

जाति के खत्री हैं। पढ़े-लिखे योग्य आदमी हैं। एक लिमिटेड कंपनी में दो सौ रुपए मासिक वेतन पर काम करते हैं। आपके परिवार में इस समय आपके अतिरिक्त आपकी पत्नी, एक क्वाँरी बहन, आपकी माता, तथा एक पुत्र है, जिसे संसार में आए अभी केवल एक मास हुआ है।

रविवार का दिन था। बाबू मोहनलाल अपने कमरे में बैठे थे। उसी समय एक युवक आया। उसे देखते ही मोहनलाल कह उठे—आओ भाई श्यामाचरण, कहाँ रहे?

यह नवयुवक वही था, जिसने बरेली स्टेशन पर मोहनलाल का असबाब पैसेंजर ट्रेन में पहुँचाया था। उसी दिन से दोनों में घनिष्ठ मित्रता हो गई थी। श्यामाचरण ने एम्० ए० पास किया था। अब वह एक हाईस्कूल में, १५०) मासिक वेतन पर, सेकिंड मास्टर थे। श्यामाचरण सारस्वत-ब्राह्मण और अविवाहित थे। अपने परिवार में अकेले ही थे। उनके पिता का देहांत उस समय हो गया था, जब उनकी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। जब वह बीस वर्ष के हुए, तब माता भी परम-धाम को चल दीं। वैसे बनारस में उनके चाचा-ताऊ इत्यादि रहते थे, पर श्यामाचरण उन सब से अलग, लखनऊ में, आनंद-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे।

श्यामाचरण मोहनलाल के पास बैठ गए। मोहन बाबू ने पूछा—आज कल तुम दुबले बहुत हो रहे हो। क्या कारण है?

श्यामाचरण ने मुसकिराकर कहा—सच? मैं दुबला हो गया हूँ?

मोहन०—वाह, इसमें भी कोई मज़ाक़ की बात है?

श्यामाचरण—मुझे तो नहीं मालूम होता कि मैं दुबला हो रहा हूँ।

मोहन०—तुम्हें क्या मालूम होगा।

श्यामा०—आजकल गरमी अधिक पड़ रही है, इसी कारण कुछ खाया-पिया नहीं जाता।

मोहन०—तुम विवाह कर डालो। विना पत्नी के सुख नहीं मिलता।

विवाह का नाम सुनते ही श्यामाचरण का चेहरा कुछ उदास हो गया। उन्होंने एक दबी हुई लंबी साँस छोड़ी।

मोहन०—क्यों, विवाह का नाम सुनकर तुम उदास क्यों हो गए?

श्यामाचरण अपने को सँभालकर, मुँह पर ज़बरदस्ती मुसकिराहट लाकर, बोले—नहीं, उदास होने की तो कोई बात नहीं है।

मोहन०—नहीं जी, कुछ बात तो अवश्य है।

श्यामा०—नहीं, बात कुछ भी नहीं है।

मोहन०—तो फिर विवाह क्यों नहीं करते?

श्यामा०—अभी विवाह करने की इच्छा नहीं है।

मोहन०—क्यों?

श्यामा०—ऐसे ही।

मोहन०—वाह! अच्छी 'ऐसे ही' है। कोई कारण तो अवश्य होगा।

श्यामा०—नहीं, कारण कुछ भी नहीं है।

मोहन०—कोई बात तो अवश्य है। तुम मुझसे उसे छिपाते हो। जब से मेरी-तुम्हारी मित्रता हुई, तब से मैंने कई बार तुमसे विवाह कर लेने के लिये कहा। पहले तो दो-चार बार तुमने मेरी बात पर ध्यान दिया था, और विवाह करने की इच्छा भी प्रकट की थी, परंतु इधर कुछ दिनों से विवाह का नाम सुनते ही तुम कुछ अप्रतिभ-से हो जाते हो। क्या बात है?

श्यामा०—तुम तो बाल की खाल निकालने लगते हो। कह तो रहा हूँ, कारण केवल यही है कि अभी मेरी विवाह करने की इच्छा नहीं है, फिर भी तुमको विश्वास नहीं होता।

मोहन०—ख़ैर, तुम कहते हो, इसलिये विश्वास किए लेता हूँ।

श्यामा०—मैं कहता हूँ, इसलिये ?

मोहन०—हाँ, और क्या ?

श्यामा०—ख़ैर, मेरे कहने से ही सही ; किसी तरह तो विश्वास करो।

मोहन०—चमेली के ब्याह की तिथि तो ठीक हो गई।

श्यामाचरण कुछ चौंक पड़े। कुछ सेकिंडों के लिये उनके मुख का वर्ण श्वेत हो गया ; परंतु वह सँभलकर बोले—कौन तिथि निश्चित हुई ?

मोहन०—आषाढ़ में केवल एक लगन छठ की तो है ही, वही निश्चित हुई है।

श्यामा०—एक महीना समझो।

मोहन०—हाँ, और क्या।

श्यामा०—बड़ी प्रसन्नता की बात है।

×　　　　×　　　　×

मोहनलाल की बहन चमेली का विवाह है। मोहनलाल उसी में दत्तचित्त हैं। श्यामाचरण भी उन्हें काफ़ी सहायता दे रहे हैं। मोहनलाल श्यामाचरण से बहुत प्रेम रखते हैं। श्यामाचरण की सज्जनता, उनके गुणों—विशेषकर उनकी सरलता तथा शुद्धहृदयता—ने मोहन को मुग्ध कर लिया है। मोहन यदि संसार में किसी को अपना सच्चा मित्र समझते हैं, तो केवल श्यामाचरण को। श्यामाचरण के लिये वह सब कुछ करने को तैयार हो सकते हैं। इधर श्यामाचरण भी मोहन से अत्यंत प्रेम रखते हैं। मोहन की मित्रता के कारण ही वह लखनऊ में केवल डेढ़ सौ मासिक वेतन पर पड़े हुए हैं। उन्हें बाहर ढाई-तीन सौ मासिक तक की नौकरी मिलती थी; पर उन्होंने नामंज़ूर कर दिया। मोहन ने कहा भी कि

अच्छा है, चले जाओ, वेतन अच्छा मिल रहा है, ऐसा अवसर क्यों खो रहे हो? परंतु श्यामाचरण ने यही उत्तर दिया कि मैं अकेला आदमी हूँ, मेरे लिये डेढ़ सौ ही यथेष्ट हैं। बाहर मुझे तुम्हारा-सा मित्र कहाँ मिलेगा? यह मैं मानता हूँ कि मैं चाहे कहीं भी रहूँ, मेरी-तुम्हारी मित्रता में कभी फ़र्क़ नहीं पड़ सकता; पर मित्रता से जो सुख तथा आनंद मिलता है, वह तो दूर रहने पर नहीं मिल सकता।

चमेली के विवाह में श्यामाचरण ने ख़ूब परिश्रम किया। एक दिन मोहन ने उनसे कहा—तुम इतना परिश्रम क्यों करते हो? एक तो यों ही दुर्बल हो रहे हो, स्वास्थ्य ठीक नहीं है, उस पर इतना परिश्रम करते हो। परंतु श्यामाचरण ने मोहन की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। चमेली का विवाह सकुशल हो गया।

चमेली के ससुराल चले जाने के दो दिन बाद श्यामाचरण ने मोहन से कहा—कहो, तो मैं भी कुछ दिनों के लिये बाहर घूम आऊँ। ज़रा बाहर का जल-वायु मिले, तो शायद स्वास्थ्य कुछ ठीक हो जाय।

मोहन०—बड़ी अच्छी बात है। कहाँ जाओगे?

श्यामा०—हरद्वार जाने की इच्छा है।

मोहन०—अच्छी बात है। स्थान अच्छा है, जल-वायु भी अच्छा है। वहाँ कितने दिन रहोगे?

श्यामा०—स्कूल खुलने तक वहीं रहूँगा। आठ जुलाई को स्कूल खुलेगा। मैं छः-सात तारीख़ तक आ जाऊँगा।

मोहन०—अच्छी बात है।

(३)

चमेली का विवाह हुए छः मास व्यतीत हो गए। श्यामाचरण का स्वास्थ्य दिन-दिन बिगड़ता ही गया। यद्यपि मोहनलाल बराबर

उन्हें उनके स्वास्थ्य की ओर से सचेत करते रहते थे, पर श्यामाचरण इस ओर अधिक ध्यान नहीं देते थे। प्रायः यही कहकर टाल देते थे कि दवा खाता हूँ, और उससे फ़ायदा भी है। परंतु यथार्थ में न तो उन्होंने किसी वैद्य अथवा डॉक्टर से अपने रोग की परीक्षा कराई और न कभी कोई दवा ही खाई। नतीजा यह हुआ कि उन्हें शय्या की शरण लेनी पड़ी। उनकी यह दशा देखकर मोहन बड़े चिंतित हुए। वह श्यामाचरण को अपने ही घर में ले आए। डॉक्टर से उनके रोग की परीक्षा करवाई। डॉक्टर ने श्यामाचरण को भली भाँति देखा-भाला। तत्पश्चात् मोहनलाल को अलग ले जाकर उन्होंने कहा—रोग तो बड़ा भयंकर है।

मोहन ने घबराकर पूछा—क्या है?

डॉक्टर—तपे-दिक़!

मोहन०—ओफ़्! फिर?

डॉक्टर—दिक़ की तीसरी अवस्था है। रोग प्रति दिन असाध्य होता जा रहा है। पर आप घबराएँ नहीं, मैं पूरी चेष्टा करूँगा।

डॉक्टर साहब नुसख़ा लिखकर चले गए।

मोहन का चित्त बड़ा व्याकुल हुआ। उन्हें श्यामाचरण पर क्रोध भी आया कि लापरवाही करके इसने अपने हाथों अपना रोग बढ़ा लिया।

श्यामाचरण ने मोहन से पूछा—क्यों भाई, डॉक्टर ने क्या कहा?

मोहन०—कहा क्या, यही कहते थे कि जल्द आराम हो जायँगे। लापरवाही के कारण रोग कुछ बढ़ गया है। भाई श्यामाचरण, मैं तुमसे कितने दिनों से कह रहा हूँ, पर तुम सदैव यही कहते रहे कि दवा खाता हूँ। अफ़सोस! यदि मैं ऐसा जानता, तो स्वयं अपने हाथ से तुम्हें दवा खिलाया करता। ख़ैर, कोई हर्ज नहीं, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा तुम शीघ्र उठ खड़े होगे।

श्यामाचरण के मुख पर एक हलकी-सी मुसकिराहट दौड़ गई। दो मास तक लगातार मोहनलाल मित्र की चिकित्सा कराते रहे। वह और उनकी पत्नी, दोनों श्यामाचरण की यथेष्ट सेवा-सुश्रूषा भी करते रहे। मोहनलाल की बुरी दशा थी। वह यही समझते थे कि उनका सगा तथा परम प्रिय भाई बीमार है। मित्र की चिकित्सा में जो कुछ ख़र्च होता था, सो सब वह अपने पास से ख़र्च करते थे। यद्यपि श्यामाचरण के कुछ रुपए बैंक में जमा थे, और श्यामाचरण ने मोहन को अधिकार दे दिया था, कह दिया था कि बैंक से रुपए ले लो, परंतु मोहन ने उस रक़म में से एक पैसा भी नहीं लिया। श्यामाचरण से उन्होंने यही कह दिया कि बैंक से रुपए उठा लिए, और उन्हीं में से चिकित्सा का ख़र्च चल रहा है।

श्यामाचरण अपने प्रति मोहन का यह प्रेम देखकर कभी-कभी एकांत में रोया करते थे। कभी-कभी कह उठते थे—मोहन, तुम देवता हो, और मैं पिशाच !

इसी प्रकार कुछ दिन और व्यतीत हुए। श्यामाचरण की दशा रत्ती-भर भी नहीं सुधरी। उलटी प्रति दिन बिगड़ती ही गई। अंत को एक दिन डॉक्टर ने मोहन से स्पष्ट कह दिया कि आप व्यर्थ इनकी चिकित्सा में रुपए नष्ट कर रहे हैं, यह अच्छे नहीं हो सकते। यह सुनकर मोहन को बड़ा दुःख हुआ। उनकी आँखों से आँसू बहने लगे।

एक दिन मोहन शाम को ऑफ़िस से लौटे। पत्नी से भेंट होते ही उन्होंने पूछा—कहो, श्यामाचरण का क्या हाल है ?

पत्नी ने कहा—हाल अच्छा नहीं है, घड़ियाँ टल रही हैं। आज मुझे एक बंद लिफ़ाफ़ा दिया, और बोले—भाई साहब को दे देना।

मोहनलाल बोले—कहाँ है, लाओ।

रानी ने मेज़ की दराज़ से एक बंद लिफ़ाफ़ा निकालकर पति को दिया।

मोहनलाल ने उसे तुरंत फाड़ डाला। उसमें से एक लंबा पत्र निकला। पत्र में लिखा था—

"प्यारे मोहन,

यद्यपि मैं यह पत्र अच्छी दशा में लिख रहा हूँ, परंतु तुम्हारे हाथों में उस समय पहुँचेगा, जब मेरा अंत-समय अत्यंत निकट होगा। मोहन, तुम मनुष्य नहीं, देवता हो। तुम्हारा-सा व्यक्ति जिसका मित्र हो, संसार में उसके बराबर भाग्यशाली और कौन हो सकता है? परंतु, मित्र, चौंकना नहीं, तुमसे मित्रता करने के कारण ही आज मुझे यह संसार छोड़ना पड़ रहा है। विश्वास रक्खो, इसमें तुम्हारा लेश-मात्र दोष नहीं, दोष मेरे भाग्य का है। तुम कारण जानने के लिये उत्सुक हो रहे होगे। कारण बताता हूँ। विचलित न होना। क्रोध न करना। शांत भाव से संपूर्ण पत्र पढ़ डालना, फिर मेरे संबंध में जो उद्गार तुम्हारे हृदय में उत्पन्न हों, उन्हें निकाल लेना। साल-भर की बात है, जब बरेली में पैसेंजर-ट्रेन का डिरेलमेंट (पटरी से उतर जाना) हुआ था। मैं मेल ट्रेन से लखनऊ आ रहा था। तुम भी उसी ट्रेन पर लखनऊ आ रहे थे। मैं ट्रेन में छाता भूल गया था, उसे लेने के लिये फिर लौटा। आह! मैं किस बुरी घड़ी में छाता गाड़ी में छोड़ गया था! निस्संदेह वह मेरे जीवन की महाअशुभ घड़ी थी। कौन जानता था, छाता लेने के लिये लौटकर आना मेरी मृत्यु को इतनी जल्दी बुला लेगा। न मैं छाता लेने को लौटता और न आज मुझे संसार से इतनी अल्प अवस्था में विदा होना पड़ता। परंतु विधना की रचना को कौन मिटा सकता है? छाता लेने को जाते समय मेरी तुमसे बात-चीत हुई। तुम्हारी बेबसी और कष्ट देखकर मेरे हृदय पर चोट

लगी। मैंने तुम्हारा असबाब ट्रेन में पहुँचाया। वही दिन—हाँ, अशुभ दिन था, जब मैं और तुम, दोनों मित्रता के सूत्र में बँध गए। तुमसे मित्रता होते ही मृत्यु की वक्र-दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी, और उसने मुझे धीरे-धीरे अपनी ओर खींचना शुरू कर दिया।

"मोहन मैं बड़ा पापी हूँ, इसलिये तुम्हारे आगे अपना पाप प्रकट करते डरता हूँ। हाँ, यह जानते हुए भी कि तुम मुझसे बहुत प्रेम करते हो—यहाँ तक कि यदि मेरा पाप तुम पर प्रकट भी हो जाय, तो तुम मुझसे घृणा नहीं करोगे—मैं अपना पाप प्रकट करते डरता हूँ। परंतु उसे प्रकट किए बिना इस संसार से जाने में कष्ट होगा, इसलिये बताता हूँ—सुनो। तुमसे मित्रता होने के पश्चात् जब मेरी-तुम्हारी घनिष्ठता बढ़ी और मैं तुम्हारे घर स्वतंत्रता-पूर्वक आने-जाने लगा, तब अचानक एक दिन मुझे ज्ञात हुआ कि मैं चमेली से प्रेम करता हूँ। देखो, विचलित मत होना, पहले पूरा पत्र पढ़ डालना। यह मेरी अंतिम भिक्षा—अंतिम याचना है। हाँ, तो मुझे ज्ञात हुआ कि मैं चमेली से प्रेम करता हूँ; क्योंकि जब मैं उसे देखता था, तब मेरा हृदय मेरे वश में नहीं रहता था। जिस दिन मुझे यह मालूम हुआ, उस दिन मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। मैंने सोचा—ऐं, ! यह क्या ? मोहन की बहिन के प्रति मेरे हृदय में यह भावना ! मैंने निश्चय कर लिया कि चाहे कुछ हो, हृदय से यह भावना निकालनी ही पड़ेगी। उसी दिन से मैं हृदय से युद्ध करने लगा, और उसी युद्ध के परिणाम-स्वरूप आज तुमसे सदैव के लिये विदा हो रहा हूँ। मोहन, तुम्हें नहीं मालूम कि मैंने कितनी रातें तारे गिनकर काटी हैं, कितने घंटे रो-रोकर व्यतीत किए हैं। जो रातें तुमने सुख की नींद में व्यतीत की हैं, वे ही रातें मैंने तड़प-तड़पकर बिताई हैं। परंतु इतने पर भी मैंने हृदय को वश में रक्खा।

तुम्हारे सामने कभी कोई ऐसी बातचीत नहीं की, जिससे तुम कुछ समझ सकते। यद्यपि मेरी शारीरिक अवस्था देखकर तुम्हें यह ज्ञात पड़ता था कि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, परंतु इससे अधिक तुम कुछ नहीं जान सके। यह क्यों? इसीलिये कि मैंने निश्चय कर लिया था, यदि हृदय किसी के सामने ज़रा भी मचला, तो उसे चीर-कर फेंक दूँगा, और यदि जिह्वा ने कोई बात कही, तो उसे काट डालूँगा। दो-एक बार मेरे जी में आया कि तुम्हारे चरणों पर सिर रखकर तुमसे सब बातें कह दूँ, और प्रार्थना करूँ कि यदि तुम मेरे प्राण बचाना चाहते हो, तो चमेली का विवाह मेरे साथ कर दो। परंतु मुझे स्वयं अपने इस विचार पर हँसी आती थी। सोचता था, यह कभी संभव नहीं हो सकता। इस विचार को मन में लाना निरा पागलपन है। मोहन क्षत्री है, मैं ब्राह्मण। ऐसा विवाह होना कभी संभव नहीं हो सकता। ओफ़! कितनी वेदना, कितना कष्ट होता था। अपने जी की बात किसी से कहना तो दूर रहा, उसका संकेत भी नहीं कर सकता था। हृदय का दुःख कहने-सुनने से बहुत कुछ हलका हो जाता है; परंतु दुर्भाग्य ने मेरे साथ इतनी रिआयत भी नहीं की। इसका परिणाम यह हुआ कि मैं भीतर-ही-भीतर घुलता गया, और अब इस संसार से विदा हो रहा हूँ। भाई मोहन, विश्वास रक्खो, मैंने बहुत चेष्टा की, हृदय से बड़ी लड़ाई लड़ी, परंतु प्रेम पर विजय न प्राप्त कर सका। मेरी पराजय हुई और प्रेम की विजय। जिस समय मैं आवेश में आकर प्रेम को परास्त करने के लिये ज़ोर लगाता था, उस समय निष्ठुर प्रेम, जानते हो, क्या करता था? वह मेरी आँखों के सामने एक ऐसी मूर्ति लाकर खड़ी कर देता था, जिसे देखकर मेरे शरीर में कँपकँपी पैदा हो जाती थी, और मैं निर्बल होकर उसके सामने घुटने टेक देता था।

"मोहन, मैंने लाख चाहा कि मैं अपने जी की बात जी ही में

लिए हुए चला जाऊँ; पर नहीं, मैं इसमें भी सफल न हुआ। बिना किसी से कहे मरकर भी शांति न पाता। तुम मेरे एक-मात्र मित्र हो। हृदय की बात मित्र से न कहूँ, तो किससे कहूँ? यही सोचकर तुमसे सब कहने के लिये विवश हो गया। मोहन, इस पत्र को तुम चमेली के भाई की दृष्टि से न पढ़ना, श्यामाचरण के मित्र की दृष्टि से पढ़ना। यदि तब भी तुम्हारे हृदय में मेरे प्रति दया तथा सहानुभूति न उत्पन्न हो, घृणा तथा द्वेष ही उत्पन्न हो, तो समझ लेना, मैं महाअधम, मित्र-द्रोही तथा नारकी था, और मुझे भूल जाने की चेष्टा करना।

"मोहन, तुम सब जान गए। क्या अब भी तुम यह नहीं सोचते कि यदि मेरी-तुम्हारी मित्रता न हुई होती, तो अच्छा था। दुर्भाग्य अमृत को भी विष बना देता है। तुम्हारी मित्रता अमृत थी; पर दुर्भाग्य ने मेरे लिये उसे विष बना दिया।

"बस, अधिक क्या कहूँ। तुमने मेरे साथ जैसा व्यवहार किया है, उससे मैं जन्म-जन्मांतर में भी तुमसे उरिन नहीं हो सकता। अंत में ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि वह सबको तुम्हारा-सा मित्र दें, पर मेरा-सा दुर्भाग्य किसी को भी नहीं।

तुम्हारा अभागा मित्र

श्यामाचरण"

पत्र पढ़ते-पढ़ते मोहन की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। उन्होंने पत्र को समाप्त करके वहीं पटक दिया। दौड़ते हुए श्यामाचरण के पास पहुँचे। श्यामाचरण आँखें बंद किए पड़े थे। उनकी साँस उखड़ चुकी थी। मोहन ने उनके सिर के नीचे हाथ देकर उन्हें उठाया, और पुकारा—श्यामाचरण!

श्यामाचरण ने आँखें खोलीं, लड़खड़ाती हुई ज़बान से कहा—मोहन!

मोहन ने श्यामाचरण के मुख पर अपना मुख रखकर कहा—भाई, मैंने तुम्हारा पत्र पढ़ा।

यह सुनते ही कुछ सेकिंडों के लिये श्यामाचरण चैतन्य-से हो गए।

मोहन ने कहा—भाई, यदि तुम मुझसे पहले यह रहस्य बता देते, तो मैं चमेली का विवाह तुम्हारे ही साथ कर देता। चाहे समाज मुझे ठुकरा देता, चाहे मैं जाति-च्युत कर दिया जाता, पर तुम्हारे लिये सब सह लेता। ओफ़्! तुमने मुझे मित्र समझकर भी मुझसे कपट किया।

श्यामाचरण ने नेत्र-विस्फारित करके कहा—क्या तुम चमेली से मेरा विवाह कर देते?

मोहन ने कहा—निश्चय कर देता।

श्यामाचरण ने एक 'आह' भरी। तत्पश्चात् अपना सिर उठाकर कहा—मोहन, तब तो मैं पापी नहीं हूँ?

इतना कहने के पश्चात् श्यामाचरण का सिर ढलक गया। "प्रेम का पापी" शरीर-बंधन से मुक्त होकर परम-धाम को सिधार गया।

परिणाम

(१)

शाम के सात बज चुके हैं। माघ-मास की शिशिर-समीर धनाढ्यों के ऊनी वस्त्रों को भेदकर उनके शरीर में कँपकँपी उत्पन्न कररही है। ऐसे समय में एक अर्द्धवयस्क भिक्षुक, फटे-पुराने कपड़े पहने, शीत से काँपता हुआ, चला जा रहा है। उसकी बाँईं ओर एक झोली पड़ी है, सिर पर कुछ लकड़ियाँ लदी हैं, जिन्हें वह बाँएँ हाथ से साधे हुए है और दाहिने हाथ में एक सप्तवर्षीय बालिका का हाथ पकड़े हुए है। बालिका एक फटा सलूका और एक पुरानी तथा मैली धोती पहने हुए है।

बालिका धोती का पल्ला भली-भाँति शरीर में लपेटती हुई, सिसकी भरके बोली—बाबा, आज बड़ा जाड़ा है।

भिक्षुक ने कहा—हाँ, आज हवा चल रही है, चलो जल्दी डेरे पर पहुँचकर तापें।

उसी समय उधर से दो-तीन पुरुष निकले जो ऊनी कपड़े पहने हुए थे। ये लोग हँसते-खेलते जा रहे थे। बालिका ने उनकी ओर ध्यानपूर्वक देखकर अपने पिता से कहा—बाबा, इनको जाड़ा नहीं लगता?

पिता ने उत्तर दिया—ऊनी कपड़े पहने हैं, इन्हें जाड़ा क्या लगेगा। बालिका कुछ क्षण तक कुछ सोचती रही। उसकी, जिसने कभी ऊनी कपड़ों का सुख नहीं भोगा था, समझ में न आया कि ऊनी कपड़े किस प्रकार शीत को पास नहीं आने देते। उसने फिर पूछा—बाबा, क्या ऊनी कपड़ों में जाड़ा नहीं लगता?

पिता ने उत्तर दिया—नहीं बेटा, ऊनी कपड़ों में जाड़ा नहीं लगता। बालिका ने फिर कुछ देर तक कुछ सोचा। कदाचित् वह उस सुख की कल्पना करने की चेष्टा करती थी जो ऊनी कपड़े पहनने से मिलता है। परंतु कदाचित् वह उसकी कल्पना नहीं कर सकी, इसीलिये उसने पुनः कहा—बाबा, जाड़ा तो ज़रूर लगता होगा।

पिता ने बालिका की इस बात का कुछ उत्तर न दिया। उसका ध्यान इस समय केवल इस बात पर लगा हुआ था कि किसी प्रकार शीघ्र डेरे पर पहुँचकर आग तापें।

लगभग बीस मिनट तक चलने के पश्चात् ये दोनों एक स्कूल के पास पहुँचे। उस स्कूल की चहारदीवारी बहुत ऊँची तथा लंबी थी। उसी चहारदीवारी के नीचे कुछ सिरकी तथा फूस के छप्पर बाँसों पर छाए हुए थे। यही स्थान भिक्षुक का डेरा था। इसी स्थान पर दस-बारह भिक्षुकों ने जल तथा धूप से बचने के लिये यह प्रबंध कर लिया था। भिक्षुक के वहाँ पहुँचते ही तीन-चार अन्य भिखारियों ने, जो आग जलाए हुए बैठे ताप रहे थे, कहा—आ गए भैया? आज बड़ी देर लगाई।

भिक्षुक ने सिर की लकड़ियाँ भूमि पर पटककर कहा—हाँ भैया, आज देर हो गई। दिन-भर कुछ मिला नहीं। इसी मारे दौड़े-दौड़े फिरते रहे।

एक भिक्षुक ने पूछा—तो कहो कुछ मिला कि नहीं?

भिक्षुक ने कहा—हाँ भैया, कुछ-न-कुछ तो मिल ही गया। सेर भर आटा और थोड़ी दाल मिल गई है—पेट भरने को बहुत है।

एक अन्य भिखारी ने कहा—तो भैया तुम मज़े में रहे। हमें तो आज आध सेर चने और दो पैसे मिले।

एक तीसरा व्यक्ति बोला—भैया, जो भाग का होता है, वही मिलता है। न रत्ती भर अधिक न रत्ती भर कम।

हमारे परिचित भिखारी ने थोड़ी लकड़ियाँ निकालकर अलाव के पास रख दीं और वह बोला—लेओ भैया, यह हमारा हिस्सा है। इतनी लकड़ी हैं सो इनमें रोटी बनायँगे।

बालिका पहुँचते ही अलाव के पास बैठकर तापने लगी थी।

भिक्षुक ने एक मिट्टी के कूँड़े में आटा माड़ा। एक मिट्टी की हँड़िया में दाल डालकर चूल्हे पर चढ़ा दी। चूल्हा चार-पाँच ईंटें चुनकर बना लिया गया था। इस प्रकार भोजन तैयार करके भिक्षुक ने अपनी कन्या को खिलाया और स्वयं खाया; तत्पश्चात् दोनों अलाव के पास बैठकर तापने लगे।

एक भिक्षुक ने हमारे परिचित भिक्षुक से कहा—भैया रामलाल, आज तो लकड़ी बहुत हैं, बड़े मज़े में रात पार हो जायगी।

रामलाल ने कहा—हाँ, आज तो जाड़ा न सताएगा।

एक अन्य भिखारी बोला—आज जाड़ा पास नहीं फटकेगा, रात-भर मज़े से सोओ।

कुछ देर तक सब लोग चुपचाप बैठे तापते रहे। हठात् एक व्यक्ति ने कहा—काहे भैया, गिरस्ती (गृहस्थी) में अधिक आनंद है कि इसमें?

दूसरे ने कहा—अरे भैया, गिरस्ती की क्या बात है, जो मज़ा गिरस्ती में है वह इसमें कहाँ।

तीसरा बोल उठा—गिरस्ती ससुरी में क्या मज़ा है, रात-दिन संसव (संशय) लगा रहता है, यह लाओ, वह लाओ। आज छठी है, आज पसनी है, आज जनेऊ है आज ब्याह, यही लगा रहता है। इसमें क्या, खाने-भर को माँग लाए, बस, खा-पी के मज़े से पैर फैलाकर सोए, न किसी ससुरे का लेना न किसी ससुरे का देना।

चौथे ने कहा, हाँ भैया, ठीक कहते हो। और एक बात तो देखो कि कोई बंधन नहीं, चाहो अभी विलायत को चल दो। गिरस्ती में तो आदमी तेली का बैल बन जाता है, न कहीं आ सके न जा सके।

जिस व्यक्ति ने गृहस्थी की प्रशंसा की थी वह बोला—एक मज़ा है, तो एक तकलीप (तकलीफ़) भी है । अब आज तापै भरे को लकड़ी मिल गई है न, इसी से इस वखत मजे में हौ ; जो लकड़ी न होतीं तो हुलिया बिगड़ जाती, तब फिर गिरस्ती याद आती। गिरस्ती को कोई पंथ पा सकता है ? हमें तुम्हें जोई पावा है, धुतकार देता है, गाली दे देता है। अभी पानी बरसने लगे, तो यही कहो कि एक कच्ची झोपड़ी तक होती तो अच्छा था।

तीसरे व्यक्ति ने कहा—गिरस्ती में भी ससुर सैकड़ों दुख-दर्द लगे रहते हैं । राजा महाराजा लोगों की बात जाने दो—ग़रीब आदमी को गिरस्ती में भी दुःख है। हम तुम तो भीख माँगकर भी पेट भर सकते हैं; पर गिरस्त आदमी भूखों मरा करते हैं ।

गृहस्थी के पोषक ने कहा—भूखों मरते हैं वह जो मेहनत-मजूरी नहीं करते ।

चौथा व्यक्ति बोला—तो काहे भीख माँगते हो ? जाओ मेहनत-मजूरी करो, गिरस्तासरम बनो ?

गृहस्थी के पक्षपाती ने कहा—भैया, गिरस्तासरम का सुख भी बहुत भोगा। अब क्या करें, कोई आगे न पीछे, अपने पेट भरे को माँग खाते हैं। (रामलाल की ओर संकेत करके) इन्हें गिरस्तासरम बनना चाहिए ! एक बिटिया है, उसे पालना-पोसना है, ब्याह करना है। रामलाल अभी तक सिर झुकाए बैठा इन लोगों की बातचीत चुपचाप सुन रहा था। उपर्युक्त वाक्य सुनकर उसने सिर उठाया और बोला—भैया, इस बिटिया खातिर ही मैंने यह भिच्छाबिरत (भिक्षावृत्ति) लिया है।

तीसरे व्यक्ति ने आश्चर्य से पूछा—यह तो तुम उलटी बात कहते हो। बिटिया खातिर तो तुम्हें मेहनत-मजूरी करनी चाहिए। कल को लड़की सयानी होगी, तो उसका ब्याह कहाँ से करोगे ?

चौथा बोला—अरे यह भी न सही, मान लो ब्याह करने को पैसा भी पास हो गया, तो भिखारी की बिटिया से ब्याह कौन करेगा ? भिखारी की बिटिया का तो यही हो सकता है कि कोई भिखारी बैठाल ले, या कोई ......

वह व्यक्ति इतना ही कहने पाया था कि रामलाल ने एक घूँसा उसके मुँह पर मारा। वह व्यक्ति मुँह पकड़कर रह गया। इधर सब लोग हाँ-हाँ करने लगे।

रामलाल बोला—जबान सँभालकर बात नहीं करता। मेरी बिटिया के संबंध में कोई ऐसी-वैसी बात कही, तो जान ले लूँगा। यह समझ लेना।

आहत व्यक्ति बोला—दिल्लगी है जान ले लेना, बड़ा जान लेनेवाला बना है। माँगने को भीख, गरमी इतनी ! बड़ा पानीदार बन कर चला है। इनकी बिटिया खातिर महाराज ग्वालियर के कुँवर आवेंगे न ! तुम्हारे साथी सैकड़ों की बहन-बिटिया गली गली......

वाक्य पूर्ण होने के पूर्व ही रामलाल उछलकर उसकी छाती पर सवार हो गया।

इधर सब लोग उठकर खड़े हो गए और बोले—देखो आग बचाए। ऐसा न हो अलाव में गिरो, तो अभी लेने के देने पड़ जायँ। अरे भैया जाने दो, ग़म खाओ। काहे को आपस में लड़ते हो।

बड़ी कठिनता से सबने मिलकर दोनों को छुड़ाया। इधर रामलाल की कन्या, जो अलाव ही के पास सो गई थी, इस गड़बड़ से जाग पड़ी और अपने पिता से लड़ाई होते देख रोने लगी। अतएव रामलाल ने कन्या को रोते देख लड़ाई का अंत कर देना ही उचित समझा। पर रामलाल ने उसके मुँह पर तीन-चार घूँसे ऐसे कस-कस कर लगाए कि मुँह से रक्त-स्राव होने लगा।

इसके पश्चात् सब लोग सो रहे। कोई अलाव के पास ही दुबक-कर लेट रहा, कोई अपनी मड़इया में चला गया। रामलाल की कन्या भी अलाव के पास पुनः सो गई। परंतु रामलाल? रामलाल अलाव के पास बैठा ही रहा। रात भर वह अग्निदेव पर दृष्टि जमाए बैठा अनेक बातें सोचता रहा। उसे रह-रहकर भिक्षुक के वे शब्द कि "कल को लड़की सयानी होगी तो उसका ब्याह कहाँ से करोगे?........भिखारी की बिटिया से कौन ब्याह करेगा?...... भिखारी की बिटिया का तो यह ही हो सकता है कि कोई भिखारी बैठाल ले, या कोई......।" इसके आगे के शब्दों की कल्पना जब रामलाल करता था तब उसका ख़ून उबलने लगता था। और जिस समय उसे भिक्षुक के ये शब्द याद आते थे कि "तुम्हारे साथी. सैकड़ों की बहन-बिटिया गली-गली......" उस समय वह अपनी अलाव के पास पड़ी हुई कन्या पर एक दृष्टि डालता था। अग्नि की क्षीण ज्योति पड़ने के कारण कन्या का रक्त-रंजित सुंदर तथा भोला मुख, जो निद्रा में मग्न होने के कारण और भी अधिक अबोध और पवित्र हो गया था, उसके हृदय में अशांति की ऐसी विकट ज्वाला उत्पन्न करता था कि जिसके सामने बाहर लकड़ियों के ढेर पर नृत्य करती हुई ज्वालाएँ नितांत तुच्छ प्रतीत होती थीं। उस समय उसके अंतस्तल से एक आवाज़ उठती थी कि "रामलाल, तू जिसे इतना अधिक प्यार करता है कि उसके लिये अपने प्राण तक दे देने को तैयार है, उसके भविष्य के लिये तू क्या कर रहा है? क्या तू उसे भी, अपनी तरह भिखारिणी बनाकर अपने पीछे गलियों-गलियों की ठोकरें खाने के लिये छोड़ जाना चाहता है? क्या यही तेरा स्नेह है, क्या यही तेरा वात्सल्य है? भिक्षुक की बातें तुझे कटु भले ही लगी हों; पर उनमें तेरे लिये चेतावनी और तेरी कन्या के लिये भविष्यद्वाणी छिपी हुई है।"

रामलाल इसी प्रकार की बातें सोचता रहा। उसे इस बात पर आश्चर्य होता था कि आज तक उसका ध्यान स्वयं इस महत्त्व-पूर्ण प्रश्न की ओर क्यों आकर्षित नहीं हुआ। उसे भिक्षुक को पीटने का पश्चात्ताप भी हुआ। उसने सोचा कि "भिक्षुक ने वह बात कही कि तुझे उसका कृतज्ञ होना चाहिए था, इसके प्रतिकूल तूने उसे हानि पहुँचाई। इससे बढ़कर कायरता, इससे बढ़कर कृतघ्नता और क्या हो सकती है?"

रामलाल ने इसी प्रकार की चिंताओं में रात व्यतीत कर दी। प्रातःकाल होते ही पहले वह नित्य-क्रिया से निवृत्त हुआ, तत्पश्चात् वह अपने साथ के भिक्षुकों से बोला—भैया, हमारा कहा-सुना माफ़ करना। आज हम तुम सबसे विदा होते हैं।

उसके साथियों ने उससे पूछा—कहाँ जाते हो?

रामलाल—जहाँ भाग्य ले जायगा।

रामलाल ने जिस भिक्षुक को पीटा था उसके पास जाकर वह बोला—भैया, रात गुस्से में हमने तुम्हें मारा, इसके लिये हमें बड़ा पछतावा है। भैया हमारा क़सूर माफ़ कर देना। तुमने हमें वह सीख दी है जो आज तक हमारे बड़े-से-बड़े हितू ने भी न दी थी। तुम्हारा यह एहसान हम जनम-भर नहीं भूलेंगे। भगवान् तुम्हारा भला करे।

यह कहकर रामलाल कन्या का हाथ पकड़कर एक ओर चल दिया। उसके साथी अवाक् होकर उसकी ओर देखते रह गए।

(२)

उपर्युक्त घटना हुए आठ वर्ष व्यतीत हो गए।

कलकत्ते के एक लक्षाधीश सेठ अपने गगनचुंबी भवन के एक सुंदर सजे हुए कमरे में बैठे हुए हैं। उनके पास ही तीन-चार आदमी शिष्टता-पूर्वक बैठे हुए उनसे कुछ बातें कर रहे हैं। उसी समय उनके एक दास ने आकर कहा—सरकार, पंडितजी आए हैं।

सेठ ने पूछा—कहाँ हैं ?

नौकर ने उत्तर दिया—आफ़िस में बैठे हैं।

सेठजी—यहीं भेज दो।

नौकर चला गया। थोड़ी देर पश्चात् एक सज्जन, जिनकी वयस ५० के लगभग होगी और जो वेष-भूषा से कोई धनी तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति जान पड़ते थे, कमरे के भीतर आए। सेठजी उन्हें देखते ही मुसकिराकर बोले—आइए पंडितजी, सब आनंद-मंगल ?

पंडितजी ने कहा—सब आपकी दया है।

सेठजी—कहिए, ब्याह की सब तैयारी हो गई ?

पंडित—हाँ, तैयारी तो सब हो गई और हो रही है।

सेठजी—किस मिती को ब्याह है ?

पंडितजी—क्या आपको निमंत्रण-पत्र नहीं मिला ?

सेठजी—निमंत्रण-पत्र तो मिल गया, पढ़ा भी था ; पर मिती याद नहीं रही।

पंडितजी—कहीं ऐसे ही बारात में सम्मिलित होना न भूल जाइएगा।

सेठजी हँसकर बोले—नहीं जी, भला ऐसा हो सकता है ? मैं तो सबसे पहले चलूँगा। ख़ाली चलना ही, नहीं मेरे लायक़ कोई सेवा होगी, तो वह भी करूँगा।

पंडितजी—यह सब आपका अनुग्रह है, आप ही योग न देंगे, तो फिर योग कौन देगा। विवाह माघ सुदी तीज को है।

सेठजी—तो इस हिसाब से अभी बीस दिन बाक़ी हैं।

पंडितजी—हाँ और क्या।

सेठजी—बारात कहाँ जायगी ?

पंडितजी—हेरिसन रोड जायगी।

सेठजी—घर तो अच्छा ही होगा, इसके लिये तो पूछना व्यर्थ है। आपने सब देख-सुन लिया होगा।

पंडितजी—घर तो जो देखा है सो देखा ही है; पर मुख्य बात जो है वह लड़की है। लड़की अच्छी है, सुंदर, सुशील तथा पढ़ी-लिखी है।

सेठजी—तो और क्या चाहिए।

पंडितजी—हाँ, मैंने लड़की ही देखी है। वैसे तो कुछ लोगों ने इस संबंध पर आपत्ति भी की थी।

सेठजी—क्यों ?

पंडितजी—इसलिये कि लड़की के न मा है, न कोई भाई है, न बहन है, केवल पिता है।

सेठजी—केवल पिता-पुत्री हैं ?

पंडितजी—केवल !

सेठजी—कोई चाचा-ताऊ तो होंगे ही ?

पंडितजी—कोई नहीं।

सेठजी—अरे तो विवाह-कार्य कौन करेगा ?

पंडितजी—कोई दूर के रिश्तेदार हैं। उन्हीं के घर की स्त्रियाँ आ गई हैं। वही सब कार्य करेंगी। वैसे नौकर-चाकर बहुत हैं, आदमी धनी है।

सेठजी मुसकिराकर बोले—तभी-तभी। सोची दूर की पंडितजी। फिर क्या है ? मौज करो, जो कुछ है सब तुम्हारा ही है।

पंडितजी—कुछ झेंपकर मुसकिराते हुए बोले—यह बात नहीं सेठजी। ईश्वर का दिया मेरे पास सब कुछ है। पराए धन पर नीयत डिगाना मैं पाप समझता हूँ। बात इतनी ही है कि कन्या मुझे पसंद आ गई।

सेठजी बोले—अजी मैं हँसी करता हूँ पंडितजी, आपको क्या कमी है। ख़ैर, भगवान् शुभ करें। मेरे लायक़ जो कुछ हो, बिना संकोच कहिएगा।

पंडितजी प्रसन्न-मुख होकर बोले—पहली बात यह है कि आप बारात में अवश्य सम्मिलित हों।

सेठजी—ज़रूर, सौ काम छोड़ के। हाँ और?

पंडितजी—दूसरी बात यह कि बारात के लिये अपनी सवारियाँ दीजिएगा।

सेठजी—बड़ी ख़ुशी से। इस समय मेरे यहाँ दो मोटरें, एक फिटन और एक घोड़ों की जोड़ी है। ये तीनों आपकी सेवा के लिये प्रस्तुत हैं। मोटरें तो वैसे तीन हैं, पर एक आजकल कुछ मरम्मत माँग रही है।

पंडितजी—दो मोटरें काफ़ी हैं, जोड़ी भी काम आ जायगी।

इसके पश्चात् थोड़ी देर तक इधर-उधर की बातें करने के पश्चात् पंडितजी विदा हुए।

(२)

हेरिसन रोड की एक सुंदर अट्टालिका के द्वार पर एक बारात सजी खड़ी है। लक्षणों से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि बारात विवाहोपरांत विदा हो रही है। क्योंकि द्वार पर एक सुंदर पालकी, जिस पर सुनहरी कारचोबी का परदा पड़ा हुआ है, खड़ी है। इसके अतिरिक्त दहेज़ का बहुत सामान रक्खा हुआ है।

होती; क्योंकि पाठक समझ गए होंगे कि यह वृद्ध हमारा परिचित वही रामलाल है जिसे हम पहले-पहल भिक्षुक-वेष में देख चुके हैं। आभूषणों से सुसज्जित षोडशी उसकी वही कन्या है जिसे हमने एक दिन अग्निकुंड के पास भूमि पर पड़े देखा था। पाठक, आश्चर्य मत कीजिए, यह वही मलिना, धूरि-धूसरिता, जीर्ण-शीर्ण-वस्त्राच्छादिता, अर्द्ध-नग्ना रामलाल की कन्या है। अब वह बालिका नहीं रही, अब वह षोडशी सुंदरी है। वह कुमारी नहीं है, अब वह वह नव-विवाहिता नव-वधू है। वृद्ध ने अपने को सँभालकर कहा—बेटा श्यामा, अपने बूढ़े बाप को अधिक मायामोह में न फँसाओ। मेरे आँसू शोक के आँसू नहीं, आनंद के आँसू हैं।

श्यामा अपने पिता के कंधे पर से सिर उठाकर उसके मुँह की ओर देखकर बोली—बाबा, तुमने मेरे लिये बड़े दुख उठाए, तुम्हें छोड़ते मेरा कलेजा फटता है।

जान पड़ता है कन्या के मुख को, जो रोने के कारण रक्तवर्ण हो रहा था, देखकर तथा उसके उपर्युक्त वाक्य सुनकर रामलाल का हृदय व्यथित हुआ; क्योंकि उसके नेत्रों से अश्रु-स्राव, जो अब कम हो चला था, पुनः बढ़ गया।

रामलाल ने पुरुषोचित धैर्य से काम लेते हुए अपने को सँभालकर कहा—बेटी, ईश्वर को लाख-लाख धन्यवाद है कि मैं, जिसको सुबह से शाम तक अपना पेट-मात्र भरने के लिये गली-गली भटकना पड़ता था, आज तेरा विवाह इस धूम से करने में समर्थ हुआ। तू मेरे जीवन की स्फूर्ति है, तू मेरी सफलताओं का हेतु है। तू न होती, तो मैं उसी जीवन में एड़ियाँ रगड़कर मर जाता। तेरे ही कारण मुझे जीवन-क्षेत्र में असफलताओं, बाधाओं तथा कष्टों से घोर युद्ध करना पड़ा। अंत में मेरी विजय हुई। क्यों? इसलिये कि तू मेरे साथ थी। जिस समय मैं असफलताओं के आगे निर्जीव होकर गिर पड़ने

को उद्यत हो जाता था, उस समय तेरी मूर्ति मेरे शरीर में नवीन शक्ति का संचार कर देती थी और मैं दूने उत्साह के साथ बाधाओं को परास्त करता हुआ आगे बढ़ता था। मेरे जीवन का उद्देश्य पूरा हो गया। अब यदि आज मैं पुनः उसी प्रकार कंगाल हो जाऊँ, तो मुझे किंचिन्मात्र भी दुःख न होगा।

श्यामा ने पिता को अपनी दोनों बाहुओं में जकड़कर कहा—बाबा, ऐसी बात मत कहो, मेरा कलेजा टुकड़े-टुकड़े होता है।

उसी समय कमरे के द्वार से एक स्त्री ने कहा—महराजजी, समधी कहते हैं कि जल्दी बिदा करो, देर होती है।

रामलाल ने श्यामा को अपने से अलग करते हुए कहा—जाओ बेटी, देर होती है।

श्यामा अलग हो गई और कुछ क्षण तक पिता की ओर देखती रही। तत्पश्चात् पुनः उससे लिपटकर बोली—बाबा, मुझे जल्दी बुला लेना, नहीं मैं रो-रोकर प्राण दे दूँगी।

वृद्ध के होठों पर मृदु हास्य की एक हल्की रेखा दौड़ गई। उसने कहा—बेटी, किसी के मा-बाप सदैव जीवित नहीं रहते। अब तुम्हारा घर वही है। तुम जीवन के एक नवीन क्षेत्र में जा रही हो और तुम्हें अपना शेष जीवन उसी क्षेत्र में व्यतीत करना है। अतएव तुम्हें उसके लिये अभी से प्रस्तुत हो जाना चाहिए।

श्यामा की हिचकी बँधी हुई थी। अतएव वह इसका कोई स्पष्ट उत्तर न दे सकी।

रामलाल ने आँसू पोंछते हुए कहा—बेटी, मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम फलो-फूलो, जीवन का सुख लूटो। बस, मेरी यही अंतिम आकांक्षा है।

इसके पश्चात् वह श्यामा को सहारा देकर कमरे के बाहर ले गया। कमरे के बाहर दो स्त्रियाँ अच्छे वस्त्र पहने हुए खड़ी थीं और

पास ही दो दासियाँ तथा एक दास खड़ा था। रामलाल ने उनसे कहा—जाओ, पालकी में बिठा आओ। दासियाँ श्यामा को ले चलीं। पीछे-पीछे वे स्त्रियाँ भी चलीं। श्यामा दासियों की हिरासत से भागकर एक बार पुनः पिता से लिपट गई।

रामलाल की आँखों से पुनः अश्रु-पात होने लगा। कुछ क्षणों पश्चात् उसने श्यामा को बलपूर्वक अपने से अलग करके दासियों के सिपुर्द कर दिया।

बारात बिदा होने के पश्चात् दो घंटे व्यतीत हो गए। रामलाल एक व्यक्ति से खड़ा कह रहा है—पंडित कालिकाप्रसादजी, आपने मेरे रिश्तेदार बनकर और अपने परिवार की स्त्रियों द्वारा विवाह का सब कार्य कराकर इस समय मेरी जो सहायता की है इसके लिये मैं आपका चिर-कृतज्ञ रहूँगा। परंतु मेरा अनुभव है कि केवल ज़बानी कृतज्ञता के प्रकट करने से मनुष्य का हृदय संतुष्ट नहीं होता। अतएव आपको मैं यह पाँच सहस्र रुपए देता हूँ।

यह कहकर रामलाल ने कालिकाप्रसाद के हाथों में नोटों का एक मोटा बंडल दे दिया।

इसके पश्चात् रामलाल ने कहा—अब आप अपने घर जा सकते हैं। कालिकाप्रसाद ने कहा—तो क्या सरकार, अब मुझे बरख़ास्त करते हैं?

रामलाल—नहीं, ऐसा कर्कश शब्द मैं नहीं कह सकता। मैं केवल इतना कहता हूँ कि मुझे अब आपकी आवश्यकता नहीं रही। यह न समझिएगा कि मैं किसी दूसरे आदमी को रक्खूँगा। नहीं, अब मैं अपना सारा कारोबार बंद करता हूँ।

कालिकाप्रसाद ने विस्मित होकर पूछा—ऐसा क्यों?

रामलाल—जिस कार्य के लिये मैं धनोपार्जन करता था, मेरा वह कार्य पूरा हो गया। अब मुझे धनोपार्जन करने की कोई आवश्यकता

नहीं रही। मेरे पास जो कुछ है, वह मेरे शेष जीवन के लिये पर्याप्त है। कालिकाप्रसाद रुपए मिलने से प्रसन्न-चित्त और नौकरी छूटने से म्लान-मुख होकर धीरे-धीरे रामलाल के पास से चल दिए।

(२)

आज हम रामलाल को उसी नगर के एक विशाल हिंदू-होटल में बैठे देख रहे हैं जिस नगर की गलियों में वह एक दिन भिक्षा माँगता फिरता था।

जब संध्या-देवी प्रकृति पर अपनी काली चादर फैला रही थी, उस समय उक्त होटल से रामलाल मलिन वस्त्र पहने हुए निकला और सीधा उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ किसी समय वह भिक्षुक की हैसियत से एक मड़ैया में रहता था। वहाँ पहुँचकर उसने देखा कि उसके प्राचीन निवास-स्थान की बस्ती उतनी घनी नहीं रही जितनी उसके समय में थी। इस समय वहाँ केवल दो तीन मड़ैयाँ पड़ी हुई थीं। मनुष्य भी छः-सात से अधिक न थे। उनमें से अधिकांश उसके लिये अपरिचित थे।

रामलाल ने एक भिक्षुक से पूछा—क्यों भाई, यहाँ कोई सधुआ दास का भिखारी है।

आश्चर्य से उसकी ओर देखकर एक ने कहा—नहीं, यहाँ तो इस नाम का कोई भिखारी नहीं है।

रामलाल ने कहा—आठ बरस हुए तब तो वह यहीं रहता था।

एक भिक्षुक ने कहा—तुम भी ज़माने की बात करते हो, आठ बरस में तो न-जाने कौन-कौन मरा और कौन जिया होगा।

रामलाल ने पूछा—तुम लोग यहाँ कितने दिनों से हो?

दूसरे भिक्षुक ने कहा—यही कोई साल-भर हुआ। एक बेर म्युनि-सिपल्टी ने सब मड़ैयाँ उखड़वाकर फिकवा दी थीं और सब भाइयों

को भगा दिया था। तब से।यहाँ अब बहुत आदमी नहीं रहते।

तीसरा बोला—एक आदमी यहाँ पुराना रहता है। उससे पूछो, वह चाहे कुछ बता सके।

रामलाल ने पूछा—वह कहाँ है ?

भिक्षुक ने उत्तर दिया—मड़ैया के भीतर पड़ा है। आजकल कुछ सिकस्त रहता है, कहीं माँगने-वाँगने भी नहीं जाता, हमीं लोग खाने को दे दिया करते हैं।

रामलाल—उसे बुलाओ।

एक भिक्षुक ने पुकारा—बड़े दादा हो, ओ बड़े दादा ?

एक मड़ैया के भीतर से किसी ने कहा—कौन है ?

उस भिक्षुक ने कहा—ज़रा बाहर आओ, तुम्हें कोई पूछता है।

कुछ क्षण के बाद एक वृद्ध धीरे-धीरे मड़ैया से निकलकर आया। वृद्ध के मुख पर लंबी दाढ़ी और सिर में लंबे केश थे, गले में दो-तीन मालाएँ पड़ी हुई थीं।

वृद्ध ने बाहर आकर पूछा—कौन है ?

रामलाल ने कहा—ज़रा इधर आओ।

वृद्ध और आगे आया, और बोला—क्या है ?

रामलाल ने पूछा—तुम सधुआ को जानते हो ?

यह सुनकर वृद्ध चौंक पड़ा। उसने एक बेर रामलाल को सिर से पैर तक देखा और बोला—सधुआ तो हमारा साथी रहा, उसे शरीर छोड़े साल-भर हो गया।

रामलाल ने पूछा—तुम रामलाल को जानते हो ?

वृद्ध ने पुनः रामलाल को सिर से पैर तक देखा, परंतु अंधकार के कारण पहचान न सका। अतएव बोला—वह ससुर आज आठ-नौ बरसें हुईं तब कहीं चला गया था, कौन जाने, साला मरा या जिया। उसकी एक बिटिया भी थी।

रामलाल के मुख पर कुछ मुसकिराहट आ गई। उसने पूछा—भैया, तुम्हारा नाम क्या है?

वृद्ध ने कहा—हमारा नाम तो छेदी है।

रामलाल चौंक पड़ा। यह छेदी वही व्यक्ति था जिसको रामलाल ने पीटा था।

रामलाल ने कहा—भैया छेदी, ज़रा अलग आ जाओ, तो तुमसे कुछ पूछूँ।

वृद्ध छेदी यह कहता हुआ कि "पुलिस के आदमी हो क्या?" रामलाल के पास आया।

रामलाल उसे अलग ले गया और कुछ क्षण तक उससे धीरे-धीरे बातें करता रहा। बीच में एक बार छेदी ने बहुत चौंककर रामलाल को सिर से पैर तक देखा और अंधकार को भेदकर अपनी दृष्टि द्वारा उसे पहचानने की चेष्टा की।

थोड़ी देर पश्चात् छेदी लौटा और अपने साथवालों से बोला—भैया, हम अभी थोड़ी देर में आते हैं।

यह कहकर वह रामलाल के साथ हो लिया।

❀ ❀ ❀

रामलाल तथा छेदी होटल के कमरे में बैठे हुए हैं। रामलाल कह रहा था—"भैया, मैं तुम्हें अपनी कहानी कहाँ तक सुनाऊँ; पर थोड़े में जो कुछ कहा जा सकता है, वह कहता हूँ। उस दिन रात को तुम्हारी बातें पहले तो मुझे बड़ी बुरी लगीं और मैंने गुस्से में पीटा; पर जब मैंने तुम्हारी बात पर ग़ौर किया, तो मुझे मालूम हुआ कि जो कुछ तुमने कहा वह बिलकुल ठीक है। मैं रात-भर तुम्हारी बातों पर विचार करता रहा। उसका परिणाम यह हुआ कि मेरे हृदय में एक भयानक हलचल उत्पन्न हो गई। मैंने क़सम खा ली कि जैसे बनेगा मैं धनोपर्जन करके छोड़ूँगा। तुम लोगों से बिदा

होकर मैं सीधा मज़दूरों के अड्डे पर पहुँचा। भाग्य-वश उसी दिन मुझे मज़दूरी मिल गई। उस दिन शाम को जब मुझे मज़दूरी के पैसे मिले, तो उन्हें देखकर मेरे हृदय में एक हार्दिक प्रसन्नता हुई। यदि भिक्षा में मुझे कोई उसका चौगुना दे देता, तो मैं उतना प्रसन्न न होता जितना कि इन पैसों को पाकर हुआ। जिस समय उन पैसों को देखकर मैं सोचता था कि ये मेरे परिश्रम के पैसे हैं—मेरी गाढ़ी कमाई है—उस समय बड़ा ही संतोष होता था। ख़ैर! मैं बराबर मज़दूरी करता रहा। श्यामा भी मेरे साथ ही रहती। एक बड़ी इमारत बन रही थी, उसी में मैं काम करता था। जिनकी इमारत बन रही थी उन्होंने मेरी श्यामा पर दया करके मुझे उसी स्थान पर रोटी बना लेने और रात को पड़ रहने की आज्ञा दे दी थी। इससे बड़ी सुविधा हुई, क्योंकि श्यामा को कहीं अकेली छोड़ भी नहीं सकता था और न मज़दूरी पर प्रत्येक समय अपने साथ ही रख सकता था। इसी प्रकार छः महीने बीत गए। छः महीने में उनके यहाँ का काम समाप्त हो गया। तब फिर मैं इधर-उधर मज़दूरी की तलाश करने लगा। चार-पाँच दिन तक बेकार रहने के पश्चात् फिर मज़दूरी लगी। छः महीने उस काम में व्यतीत हुए। साल-भर में मैंने अपनी मज़दूरी में से खा-पीकर सौ रुपए के लगभग बचा लिए। जिन दिनों में मैं मज़दूरी करता था उन दिनों मैंने लोगों से सुना था कि कलकत्ते में लक्ष्मी का वास है। वहाँ जो जाता है, वह ख़ूब रुपया पैदा कर लेता है। अतएव जब छः महीने पश्चात् वहाँ से भी जवाब मिल गया तब मैं एकदम, बिना सोचे-समझे, कल-कत्ते चला गया।

कलकत्ते पहुँचकर मुझे यह तो मालूम हो गया कि यहाँ लक्ष्मी का वास है; पर मेरे लिये वहाँ पेट पालना तक कठिन हो गया। दो महीने तक लगातार बेकार घूमता रहा। जो रुपया कमाया था,

वह सब वहीं बैठे-बैठे खा गया। भीख न माँगने की मैंने क़सम खा ली थी। इन दो महीनों में मुझे कितनी मानसिक वेदना हुई, उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। कभी-कभी तो इतना निराश हो जाता था कि यही जी चाहता था कि आत्म-हत्या कर लूँ। परंतु जब अबोध श्यामा के मुख की ओर देखता था तो जीवन से एक विकट मोह उत्पन्न होता था और हृदय में धारणा होती थी, चाहे जो कुछ हो, मैं बिना धन कमाए किसी तरह न मानूँगा। इसी बेकारी की दशा में मैं एक दिन एक सड़क पर से जा रहा था। श्यामा भी साथ थी कि हठात् एक बड़े मकान के सामने भीड़ जमा देखी। मैं मामला देखने के लिये वहाँ गया। वहाँ पहुँचकर मालूम हुआ कि उस मकान में आग लगी है। आग बुझाने का इंजिन उस समय तक नहीं आया था। मकान के दो-मंज़िले पर खिड़की से सिर बाहर निकाले हुए एक स्त्री चिल्ला रही थी। एक क्षण में मुझे लोगों से ज्ञात हुआ कि वह स्त्री आग के कारण ऊपर से नीचे नहीं आ सकती और न किसी अन्य मनुष्य का यह साहस होता था कि ऊपर जाकर उसकी सहायता करे। कुछ आदमी "सीढ़ी लाओ, सीढ़ी लाओ" चिल्ला रहे थे। लोग इतने घबराए हुए थे कि हत-बुद्धि-से हो रहे थे। न-जाने उस समय मुझ पर क्या भूत सवार हुआ कि मैं श्यामा को वहीं छोड़कर, बिना अपने प्राणों का भय किए और श्यामा के भविष्य के संबंध में सोचे, एकदम मकान के भीतर घुस गया। ऊपर पहुँचकर मुझे मालूम हुआ कि आग इतनी भयंकर नहीं थी कि कोई ऊपर आ-जा न सके, पर लोग इतने घबराए हुए थे कि किसी का साहस नहीं पड़ता था। ख़ैर! मैं उस स्त्री को नीचे उतार लाया। इतनी ही देर में आग बुझाने का इंजिन भी आ गया और आग तुरंत बुझा दी गई।

सब शांत हो जाने पर मकान के मालिक ने मेरे हाथ में सौ

रुपए देते हुए कहा—"तुमने जो सहायता दी, उसका यह पुरस्कार है।" मैं रुपए लेने ही को था कि मुझे एकदम नौकरी की बात याद आ गई। अतएव मैंने उनसे कहा—"ये रुपए मैं कितने दिन खाऊँगा, कृपा करके आप कोई नौकरी दिलवा दें, तो बड़ा पुण्य हो।"

यह सुनकर पहले तो वे कुछ विस्मित हुए, फिर कुछ सोचकर उन्होंने कहा—अच्छा।

ख़ैर मुझे उन्होंने २५) मासिक पर नौकर रख लिया। मैं उनके यहाँ दो साल तक तो तक़ाज़ा वसूल करने का काम करता रहा। इस बीच में मैंने मुड़िया में बही-खाता लिखना सीख लिया और हिंदी भी पढ़ ली। दो साल पश्चात् उन्होंने मुझे मुनीमी का काम दे दिया और मेरा वेतन सौ रुपए मासिक कर दिया। इसी प्रकार दो साल और बीते।

दो साल बीत जाने पर मैंने एक दिन अपने मालिक पर यह इच्छा प्रकट की कि मैं अपना कोई रोज़गार अलग करना चाहता हूँ। मेरे परिश्रम तथा ईमानदारी से वे मुझ पर इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने मुझे पचीस हज़ार रुपए बिना सूद उधार दे दिए। मैंने उन रुपयों से एक छोटी-सी मोज़ा-बनियाइन इत्यादि की दूकान खोल ली। दूकान चल निकली।

एक दिन मुझे सनक सवार हुई कि कुछ सट्टेबाज़ी भी करूँ। बस फिर क्या था, सट्टेबाज़ी करने लगा। सट्टेबाज़ी में मैंने एक ही वर्ष के भीतर दो लाख रुपए कमा लिए। बस, दो लाख रुपए हो जाने पर मैंने सट्टेबाज़ी एकदम छोड़ दी और ठेकेदारी करनी आरंभ की। ठेकेदारी में भी साल-भर में काफ़ी रुपया पैदा किया। मैंने अपने स्वामी से २५ सहस्र रुपए जो उधार लिए थे, वे मैंने उन्हें लौटा दिए। यह मेरी संक्षिप्त कहानी है। इतना कहकर रामलाल

चुप हो गया। छेदी कुछ क्षणों तक उसकी ओर देखता रहा, तत्पश्चात् बोला—"भाई रामलाल, तुम्हारी कथा बड़ी अचरज-भरी है। ऐसा आज तक कहीं सुनने में नहीं आया।" रामलाल ने कहा—"यद्यपि मुझे अपना पिछला जीवन एक भयानक स्वप्न-सा प्रतीत होता है, परंतु उसने जो प्रभाव मेरे हृदय पर छोड़ा है, वह इस जन्म में नहीं मिट सकता। भाई छेदी, मेरा यह अनुभव है कि लक्ष्य-हीन मनुष्य संसार में कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। जिनका लक्ष्य केवल पेट भरना और तन ढाँकना होता है, वे अपना जीवन पशु के तुल्य व्यतीत करते हैं, उनसे कभी कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हो सकता। जिनका कोई निश्चित विशेष लक्ष्य होता है और साथ ही दृढ़-प्रतिज्ञ होते हैं, वही संसार में कुछ कर जाते हैं। लक्ष्य-हीन मनुष्य पशु की तरह जन्म लेते हैं और पशु की तरह जीवन व्यतीत करके मर जाते हैं। अच्छा, यह तो सब हुआ। अब तुम यह भिक्षा-वृत्ति छोड़ो और मेरे साथ कलकत्ते चलो, वहाँ मेरे यहाँ आराम से अपना शेष जीवन व्यतीत करो, क्योंकि मैं यह जानता हूँ कि मेरी इस उन्नति में तुम्हारा भी हाथ है। यदि तुम उस रात को मुझे वे खरी-खोटी बातें न सुनाते, तो मैं आज उसी दशा में होता जिस दशा में मैं उस समय था। अतएव मेरा कर्तव्य है कि मैंने जो कुछ कमाया है, उससे तुम्हें भी लाभ पहुँचाऊँ।

छेदी की आँखों में कृतज्ञता के आँसू भर आए और उसने राम-लाल के चरणों की ओर सिर झुकाया; पर रामलाल ने उसे बीच ही में रोककर कहा—छेदी, यह क्या? यद्यपि आज मेरे पास तीन लाख रुपया है; पर मैं तुम्हारे लिये वही आठ वर्ष पहले का राम-लाल हूँ।

कुछ क्षण तक चुप रहने के पश्चात् रामलाल ने कहा—मैंने एक बात और सोची है और वह है भिक्षुकों का उद्धार करना। मैं चाहता

हूँ कि भिक्षुकों के लिये एक ऐसा आश्रम खोलूँ जिसमें उन भिक्षुकों को जो किसी प्रकार का परिश्रम नहीं कर सकते और न जिनके लिये उदर-पोषण का कोई अन्य द्वार है, आश्रय दिया जाय। उन्हें भोजन-वस्त्र दिया जाय। और जो ऐसे हैं कि परिश्रम कर सकते हैं किंतु केवल आलस्य-वश परिश्रम नहीं करते अथवा उन्हें कोई काम नहीं मिलता, वे भी उस आश्रम में रक्खे जायँ और उन्हें कोई उद्योग-धंधा सिखाया जाय। जब वे सीख जायँ तब उन्हें काम दिया जाय अथवा उन्हें कहीं नौकरी दिलाने की चेष्टा की जाय। क्यों, तुम्हारा क्या विचार है?

छेदी—बड़ी अच्छी बात है। भाई, जब म्यूनीसिपलेटी ने हम लोगों की मड़ैयाँ उखड़वाकर फिकवा दी थीं तब मैं क्या बताऊँ। ऐसे-ऐसे भाई जो अपाहिज थे, कहीं चल-फिर नहीं सकते थे, वे पानी और धूप में पड़े-पड़े मर गए। उनकी ओर किसी ने आँख उठाकर भी न देखा।

रामलाल—बड़े दुःख की बात है, क्या म्यूनीसिपलेटी में ऐसे-ऐसे हृदय-हीन लोग भी हैं कि वे ऐसा करने की सम्मति दे देते हैं। राम राम! पूछो, वे उनका क्या लेते थे, ख़ाली सड़क पर एक कोने में पड़े हुए थे। ख़ैर! भिक्षुकों के कष्ट को एक भिक्षुक ही समझ भी सकता है। अतएव मैं अपना शेष जीवन भिक्षुकों को सहायता देने, उनका सुधार करने, में ही व्यतीत करूँगा।

संतोष-धन

(१)

पं० रामभजन एक ग़रीब ब्राह्मण हैं। पंद्रह रुपए मासिक पर एक महाजन के यहाँ नौकर हैं। दो-चार रुपए मासिक ऊपर से, दान-पुण्य में, मिल जाता है। इस प्रकार केवल बीस रुपए मासिक में वह अपना परिवार जिलाते हैं। उनके परिवार में पाँच प्राणी हैं—वह, उनकी पत्नी, उनकी माता, और दो पुत्र। एक पुत्र की अवस्था दस वर्ष के लगभग है और दूसरे की चार वर्ष के लगभग। ऐसे महँगी के समय में बीस रुपए मासिक में पाँच प्राणियों का भरण-पोषण किस प्रकार होता होगा, यह बात श्रीमानों की समझ में कठिनता से आ सकती है! दोनों समय रोटी-दाल के अतिरिक्त और कोई वस्तु उन्हें नसीब नहीं होती। कभी-कभी कहीं से कोई सीधा मिल गया, तो मानो संपत्ति मिल गई; कहीं से कभी चार पैसे मिल गए, तो मानो चार रुपए मिले। इस प्रकार पं० रामभजन अपना परिवार चलाते हैं।

रात का समय था। पं० रामभजन अपनी नौकरी पर से लौटे थे, और भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर अपनी टूटी चारपाई पर पड़े हुए थे। उसी समय उनका छोटा पुत्र लल्लू उनके पास आया। रामभजन ने उसे अपने पास लिटा लिया, और उसे प्यार करने लगे। उनका संतप्त हृदय थोड़ी देर के लिये प्रफुल्लित हो गया। उनके अंधकार-मय जीवन में ज्योति की केवल दो रेखाएँ थीं, वे रेखाएँ उनके दोनों पुत्र थे। उनका मुख देखकर और उन पर अपनी अनेक भावी आशाओं को अवलंबित करके रामभजन थोड़ी देर के लिये अपने

सब कष्ट भूल जाते थे। इस समय भी लल्लू के आ जाने से वह अपनी दरिद्रावस्था को भूल गए।

लल्लू के आने के थोड़ी देर बाद ही लल्लू की माता भी उनके पास आकर बैठ गई। थोड़ी देर तक दोनों चुपचाप रहे। कुछ देर बाद लल्लू की माता बोली—लल्लू का मुंडन तो अब कर ही देना चाहिए। चार बरस का हो गया है।

रामभजन बोले—मुंडन में क्या कुछ ख़र्च न होगा?

पत्नी—ख़र्च क्यों न होगा। कम-से-कम चार-पाँच रुपए लग जायँगे।

रामभजन—तो चार-पाँच रुपए आवें कहाँ से? एक-एक पैसे की तो मुश्किल है।

पत्नी एक दीर्घ निःश्वास लेकर बोली—सारी उमर तो ऐसे ही बीत जायगी; कभी सुख से खाने-पहनने को नसीब न होगा।

रामभजन—तो क्या करें? भाग्य ही खोटे हैं। हमारे देखते-देखते जिनके घर में भूनी भाँग न थी, वे लखपती हो गए; पर हम जैसे-के-तैसे बने हैं।

पत्नी—लखपती हो गए! कहीं गड़ा धन मिला होगा।

रामभजन—हूँ! गड़ा धन मिलना सहज है!

पत्नी—तो फिर कैसे लखपती हो गए?

रामभजन—रोज़गार में लखपती हो गए। एक बनिए हैं, उनकी दशा हमसे भी ख़राब थी। न-जाने कहाँ से हज़ार-पाँच सौ रुपए मिल गए। उनसे उन्होंने घी का काम किया। वह काम उनका ऐसा चला, ऐसा चला कि आज रामजी की दया से चालीस-पचास हज़ार रुपए के आदमी हैं। अपना-अपना भाग्य है। भाग्य में होता है, तो सौ बहानों से मिल जाता है।

पत्नी—तुम भी ऐसा ही कोई रोज़गार क्यों नहीं करते? नौकरी में तो सदा वही गिने टके मिलेंगे।

रामभजन—रोज़गार के लिये रुपए भी तो चाहिए, बातों से तो रोज़गार होता नहीं।

पत्नी—कहीं से उधार ले लो।

रामभजन—पागल हो गई हो! हमें कौन उधार देगा?

पत्नी—क्यों, जिनके नौकर हो, वह न देंगे?

रामभजन—हाँ, देंगे क्यों नहीं। ऐसे ही तो हम बड़े इलाक़ेदार हैं न!

पत्नी—भला इलाक़े से ही नहीं मिलता, विश्वास भी तो कोई चीज़ है। जो उन्हें तुम्हारा विश्वास होगा, तो दे ही देंगे।

रामभजन—विश्वास कैसे हो? आजकल कोरी बातों से विश्वास नहीं होता।

पत्नी—जब कमा लेना, तो दे देना।

रामभजन—और जो वह भी चले गए, तो फिर हमसे क्या ले लेंगे?

पत्नी—चले क्यों जायँगे?

रामभजन—रोज़गार है, रोज़गार में नफ़ा-नुक़सान लगा ही रहता है। नफ़ा हुआ, तब तो कोई बात नहीं; पर यदि घाटा हो गया, तो उनका रुपया डूबेगा कि रहेगा?

पत्नी—तो ऐसा रोज़गार ही काहे को करो, जिसमें घाटा हो?

रामभजन—तुम इन बातों को क्या जानो? व्यर्थ बकवाद लगाए हो। ऐसा होता, तो सभी रोज़गार करके लखपती बन जाते।

पत्नी ने पुनः एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर कहा—हमारे भाग में तो यही दलिद्दर भोगने बदे हैं। इतना गहना भी तो पास नहीं, जो उसी को बेचकर रोज़गार में लगा दें।

रामभजन—इतना गहना धरा है। दो-डेढ़ सौ का गहना होगा, सो दो-डेढ़ सौ में कहीं रोज़गार होता है?

पत्नी—न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेंगी ?

रामभजन—ऊँह, होगा भी। हमारा धन तो ये दो लड़के हैं, चिरंजीव रहेंगे, तो बहुतेरा धन हो जायगा।

यह कहकर रामभजन लल्लू के सिर पर हाथ फेरने लगे।

मनुष्य प्रत्येक दशा में अपने हृदय की सांत्वना का आधार ढूँढ लेता है। अत्यंत कष्ट तथा दुःख में फँसा हुआ मनुष्य भी कोई-न-कोई ऐसी बात ढूँढ लेता है, जिसका आश्रय लेकर वह सारे कष्टों को झेल लेता है। मनुष्य का यह स्वभाव है, उसकी प्रकृति है। यदि ऐसा न होता, तो मनुष्य का जीवित रहना कठिन हो जाता। रामभजन भी जब अपनी दरिद्रता से संतप्त होकर धैर्य-हीन होने लगते थे, तो अंत को अपने पुत्र-रत्नों की ओर देखकर ज्वाला-पूर्ण हृदय को शांत कर लेते थे। वह सोचने लगते थे कि यह कष्ट उसी समय तक है, जब तक कि दोनों लड़के जवान होकर चार पैसे पैदा करने के योग्य नहीं हो जाते। जिस दिन उनके दोनों लाल धनोपार्जन करने योग्य हो जायँगे, उसी दिन उनके सारे कष्टों का अंत हो जायगा। इस समय भी वह यही सोच रहे थे।

उनकी पत्नी ने विषाद-पूर्ण स्वर में कहा—हाँ, हमारे तो धन ये ही हैं। रामजी चाहेंगे, तो बड़े होकर चार पैसे कमायँगे ही।

रामभजन—हाँ, यह तो है ही। सबसे अधिक चिंता बुढ़ापे की है। जब हाथ-पैर थक जायँगे, तब ये ही लड़के कमा-कमाकर खिलाएँगे। बस, हमें यही चाहिए, हमें धन-दौलत लेकर क्या करना है ? पेट-भर भोजन और तन ढकने को कपड़ा मिले जाय, बस यही बहुत है।

उसी समय रामभजन की माता वहाँ आ गई। उन्होंने कहा—अरे बेटा, लल्लू का मुंडन अब कर डालना चाहिए। इतना बड़ा हो गया, अपने-पराए सब टोकते हैं।

रामभजन—अम्माँ, ज़रा और ठहर जाओ, कहीं से रुपए मिलें, तो मुंडन हो, बिना पैसे-रुपए के कैसे होगा ?

माता—चार-पाँच रुपए लगेंगे, कुछ सौ-पचास का ख़र्च नहीं है।

रामभजन—इस समय तो चार-पाँच रुपए भी मिलने कठिन हैं।

माता—यह दशा तो सदा ही रहेगी, यह काम भी तो करना ही है।

रामभजन—ख़ैर, जो ऐसी ही जल्दी है, तो तनख़्वाह मिलने दो, कर डालना।

माता—अपने मालिक से क्यों नहीं कहते ? वह चार-पाँच रुपए दे सकते हैं।

रामभजन—चार-पाँच क्या, वह चाहें, तो सौ-पचास दे सकते हैं, पर आजकल ब्राह्मणों को देने की श्रद्धा लोगों में नहीं रही। वाहियात कामों में लोग हज़ारों ख़र्च कर डालते हैं।

माता—कलजुग है न ! कलजुग में गऊ-ब्राह्मण का मान नहीं रहा।

रामभजन—कलयुग क्या, अपना नसीब है, हमारे तो नसीब ही में दरिद्र भोगना लिखा है !

(२)

रामभजन जिनके यहाँ नौकर थे, उनके यहाँ कपड़े का काम होता था। दूकान का नाम जोतमल-हज़ारीलाल पड़ता था। रामभजन अधिकतर तक़ाज़ा वसूल करने का काम करते थे। हज़ारों रुपए नित्य रामभजन के हाथों से निकलते थे। वह ईमानदार प्रथम श्रेणी के थे, इसीलिये उनके मालिकों का उन पर पूर्ण विश्वास था। बाज़ार के अन्य लोग भी उनकी ईमानदारी के कारण उनका आदर करते थे।

जिस दिन रामभजन को वेतन मिला, उस दिन उन्होंने

डरते-डरते लाला हज़ारीलाल से कहा—लाला, तुम्हारे गुलाम का मुंडन है।

लाला हज़ारीलाल—किसका मुंडन, तुम्हारे लड़के का ?

रामभजन—हाँ, छोटे लड़के का।

"हूँ" कहकर लाला चुप हो गए। थोड़ी देर बाद बोले—तो क्या चाहते हो ?

रामभजन—कुछ सहारा लगा दीजिए, तो बड़ी दया हो।

लाला हज़ारीलाल—तनख़्वाह मिलती है, इसी में से क्यों नहीं ख़र्च करते।

रामभजन—अरे लाला, तनख़्वाह तो पेट ही-भर को नहीं होती, मुंडन में ख़र्च कहाँ से करें ?

लाला रुखाई से बोले—तो महाराज, इस समय तो हम अधिक कुछ कर नहीं सकते। आजकल बाज़ार मंदा है, बिक्री-विक्री कुछ होती नहीं। ज़रा बाज़ार चेतने दो, तो फिर धूम से मुंडन करना। अभी एक-आध महीने और ठहर जाओ।

रामभजन—लालाजी, हम तो साल-भर ठहर जायँ; पर घर में औरतें नाक में दम किए हुए हैं। आप जानते हैं, स्त्रियों का मामला बड़ा टेढ़ा होता है।

लालाजी—औरतों के मारे तो सबके नाक में दम रहता है। उन्हें कुछ मालूम पड़ता है, हुकुम चलाना भर जानती हैं।

रामभजन—हाँ, यह तो ठीक है; पर करना ही पड़ता है, बिना किए प्राण बचते हैं ?

लालाजी—तो महाराज, फिर करो, हम मना थोड़े ही करते हैं। हमारा सुबीता इस समय नहीं है, साफ़ बात है।

रामभजन—अरे लालाजी, आप राजा-महाराजा लोग हैं, आपको सब सुबीता है। भगवान् की दया से सब कुछ है।

लाला—ये लल्लो-पत्तो की बातें हमें नहीं आतीं, हम तो साफ़ आदमी हैं। सुबीता होता, तो अभी निकालकर दे देते। सुबीता नहीं है, तो साफ़ कह दिया कि नहीं है।

रामभजन—ख़ैर, आपकी इच्छा, हम अधिक कुछ तो कह नहीं सकते।

यह कहकर रामभजन उनके सामने से चले आए। एक दूसरे नौकर से आकर बोले—देखी लाला की बातें! कहते हैं, सुबीता नहीं है।

नौकर—अरे ये सब टालने की बातें हैं भैया! अभी चंदाजान सौ रुपए माँग भेजें, तो लाला आप लेकर दौड़े जायँ, दस-पाँच रुपयों के लिये कहते हैं, सुबीता नहीं है।

रामभजन—ऐसी ही बातों से जी खट्टा हो जाता है बताओ, जान तोड़कर रात-दिन मेहनत करें, हज़ारों रुपए धरें-उठावें; पर कभी एक पैसे का फ़रक़ नहीं पड़ा, फिर भी यह दशा! एक रोज़ लाला गद्दी पर चार गिन्नियाँ फेककर चले गए थे। दूकान में उस समय मैं ही था, और कोई न था। मैं चाहता, तो चारों गिन्नियाँ साफ़ घोट जाता। पर भैया, हमें तो भगवान् को मुँह दिखाना है, चार गिन्नी कितने दिन खाते? हमने तुरंत चारों गिन्नियाँ ले जाकर दे दीं। बड़े प्रसन्न हुए, एक रुपया मिठाई खाने को दिया; हमने चुपचाप ले लिया। अब जो आता है, उसी से कहते हैं, रामभजन बड़ा ईमानदार आदमी है। तारीफ़ों के पुल बाँध दिए। बताओ, इनकी तारीफ़ को ओढ़ें या बिछावें। यह नहीं होता कि कभी-कभी दस पाँच रुपए दे दें। यह भी न हुआ कि दो-चार रुपए तनख़्वाह में ही बढ़ा देते।

नौकर—ऐसी ही बातें देख-देखकर तो आदमी की नियत बिगड़ जाती है! ईमानदारी करने से क्या फ़ायदा? इनके साथ तो बस,

यही बर्ताव रक्खे कि जो मिले, सो अपने बाप का, कभी रिआयत न करे। तुम तो महाराज पोंगा हो। मैं होता, तो गिन्नियाँ कभी न लौटाता। उनकी ऐसी-तैसी। काहे को लौटावें? जब हमारी मेहनत और ईमानदारी की कोई क़दर ही नहीं, तब काहे को ईमानदारी करें। आजकल वह समय है कि सोना-तुलसी मुँह में रखकर काम करना बड़ा गधापन है, ऐसे आदमी भूखों ही मरा करते हैं। ये लाला भाई तो इस क़ाबिल हैं कि जहाँ तक हो, इनके चूना ही लगावे। हाँ, अपने हाथ-पैर बचाकर काम करे।

रामभजन—यह तो तुम्हारा कहना ठीक है; पर भैया, भगवान् को डरते हैं! लाला का क्या बिगड़ेगा? उनको समाई है। उनके सौ-पचास चले जायँगे, तो कुछ न होगा; पर अपना परलोक बिगड़ जायगा।

नौकर—अरे कहाँ का परलोक! तुम भी वही बाम्हनपने की बातें करने लगे। पहले यह लोक सँभालो, फिर परलोक की सोचना।

रामभजन—अरे भई, सोचना ही पड़ता है। उस जन्म पाप किए हैं, सो इस जन्म में भोग रहे हैं; अब इस जन्म में पाप करके अगला जन्म क्यों बिगाड़ें?

नौकर—इसी से तो कहा है कि बाम्हन साठ बरस तक पोंगा रहता है। बाम्हन को कभी बुद्धि नहीं आती, यह मानी हुई बात है।

रामभजन—चलो, हम बुद्धिहीन ही भले हैं। भैया, हमसे तो दग़ाबाज़ी कभी नहीं हो सकती।

नौकर—दग़ाबाज़ी हो कैसे, बड़े घर का जो डर लगा है। बड़े घर का डर न हो, फिर ईमानदार बने रहो, तो जानें कि बड़े ईमानदार हो।

रामभजन—वह चार गिन्नियाँ मैं ले लेता, तो मुझे कौन फाँसी

पर टाँग देता ? कुछ नोट तो थे नहीं, जो पकड़ लिए जाते। गिन्नी की क्या पहचान ? लाला का उन पर नाम लिखा था ? पर, हमने तो भगवान् का ख़ौफ़ खाया। वह घर बड़े घर से भी ज़बरदस्त है।

नौकर—तुममें हिम्मत ही नहीं है। ये सब काम हिम्मत से होते हैं। तुम्हारे-जैसे कचपेंदियों में इतनी हिम्मत कहाँ से आ सकती है ?

रामभजन—ख़ैर, ऐसा ही सही, भगवान् इसी तरह पार लगा दें। हम इसी में सुखी हैं।

नौकर—तो फिर काहे को लाला के आगे हाथ पसारते हो ? अपनी तनख्वाह में जो चाहो करो।

रामभजन—आदमी उसी से कहता है, जिस पर कुछ ज़ोर होता है।

नौकर—लाला पर तुम्हारा क्या ज़ोर है ?

रामभजन—हमारे मालिक हैं, उनका नमक खाते हैं, उन पर ज़ोर न होगा, तो किस पर होगा ?

नौकर—ज़ोर का मज़ा भी तो मिल गया ! ऐसा टका-सा जवाब मिला कि तबियत हरी हो गई होगी ! अच्छा ज़ोर है ! इसी से तो कहता हूँ कि बाम्हन साठ बरस तक पोंगा रहता है। कहने लगे ज़ोर है, हुँह ! ऐसा ज़ोर होने लगे, तो फिर ये लाला भाई काहे को लख-पती बने बैठे रहें।

रामभजन—तो इससे क्या हुआ ? आज इन्कार कर दिया है, तो कभी दे भी देंगे।

नौकर—दे चुके ! जब देने का समय आवेगा, तब सदर बाज़ार मंदा हो जायगा, यह याद रखना।

रामभजन—तो बाज़ार तो सचमुच मंदा है, इसमें लाला ने कुछ झूठ तो कहा नहीं।

नौकर—तो दस-पाँच रुपए के लिये मंदा है ? तुम भी वही पोंगे-पन की बातें करते हो ! इतने पुराने नौकर, और इतने नमकहलाल ! तुम्हें दस-पाँच रुपए देने के लिये लाला महँगे नहीं हैं । ये सब न देने की बातें हैं ।

रामभजन—ख़ैर चाहे जो हो । उनकी इच्छा ! हम अधिक तो कुछ कह सकते नहीं ।

नौकर—माँगने से कहीं कुछ मिला है ?

रामभजन—माँगने से नहीं मिलता, तो न मिले; हमसे चोरी-दग़ाबाज़ी नहीं हो सकती ।

(२)

उपर्युक्त घटना हुए एक मास व्यतीत हो गया । एक रोज़ लाला हज़ारीमल ने रामभजन को हज़ार रुपए दिए, और कहा—जाओ, करेंसी से सौ-सौ रुपए के दस नोट ले आओ ।

रामभजन थैली कंधे पर रखकर करेंसी पहुँचे । वहाँ से नोट लिए। नोट लेकर सिर झुकाए धीरे-धीरे दूकान की ओर चले । करेंसी से जब कुछ दूर निकल आए, तो उन्हें सड़क पर एक छोटा-सा पैकट पड़ा हुआ दिखाई दिया । रामभजन ने उसे ठुकराया—समझे, कोई रद्दी काग़ज़ का गोला पड़ा है । लात लगने से उन्हें ज्ञात हुआ कि तागा बँधा है । उठा लिया । उठाकर एक वृक्ष की छाया में आए । आकर उसे खोला, तो देखते क्या हैं कि इसमें सौ-सौ रुपए के बीस नोट हैं । बिलकुल ताज़े थे । जान पड़ता था, कोई व्यक्ति करेंसी से लेकर चला था, रास्ते में उसकी जेब से गिर गए ।

यह देखकर रामभजन कुछ देर तक मूर्ति की तरह खड़े रहे । सोचने लगे—ये किसके नोट हैं ? रास्ते में कोई आदमी जाता भी दिखाई न पड़ा, नहीं तो मैं पुकारकर दे देता, अब इन्हें क्या करूँ ? जिसके ये नोट हैं, उसे कहाँ ढूँढूँ । इतना बड़ा शहर है, कहाँ पता

चलेगा ? होंगे किसी बाज़ारवाले ही के। बाज़ार में पूछने पर शायद पता चल जाय।

अचानक इसी समय उन्हें उस नौकर के शब्द याद आए—"आजकल वह समय है कि सोना-तुलसी मुँह में रखकर स्नान करना बड़ा गधापन है।" यह ध्यान आते ही उन्होंने सोचा—इस चक्कर में पड़ने से कोई लाभ नहीं। ईश्वर ने ये हमीं को दिए हैं; नहीं तो भला दो हज़ार के नोट कहीं इस प्रकार मिलते हैं ? बेशक, ये हमारे ही भाग्य के हैं। यह ध्यान में आते ही उनका हृदय प्रसन्नता से भर गया। सोचे—चलो, भाग्य खुला। अब लाला की नौकरी छोड़ देंगे। यह सोचते हुए रामभजन खुशी-खुशी चले। थोड़ी ही दूर चले थे कि उन्हें ध्यान आया—नोट सौ-सौ रुपए के हैं, ऐसा न हो कि इनके नंबर उसके पास लिखे हों। ऐसा हुआ, तो बड़ा घर देखना पड़ेगा। फिर ध्यान आया—अभी-अभी तो करेंसी से लिए गए हैं; इतनी जल्दी नंबर कहाँ से लिख लिए होंगे ? यह सोचकर फिर चले। परंतु दस क़दम चलकर ही उन्हें एक युक्ति सूझी। वह पुनः करेंसी की ओर लौटे, और करेंसी में जाकर उन बीस नोटों में से दस निकाले, और उनके दस-दस रुपए के नोट बदल लिए। नोटों का मुट्ठा अपनी चद्दर में बाँध लिया। जो दस नोट अपने मालिक के लिये लिए थे, वे भी उन्हीं में मिला लिए। मिले हुए नोटों में से जो दस नोट शेष बचे थे, वे बाहर रख लिए। सोचे—ये नोट मालिक को दे देंगे। अगर पकड़े भी गए, तो उन पर पड़ेगी, हम अलग रहेंगे। हमारे पास एक हज़ार के तो दस-दस के नोट हैं, और एक हज़ार के सौ-सौ के—वे सौ-सौ के, जो हमने स्वयं मालिक के लिये लिए थे। इसलिये हमें तो अब कोई पूछ नहीं सकता। मिले हुए नोटों में से दस तो करेंसी में ही लौट गए, और दस हमारे मालिक के पास पहुँच जायँगे। बस, आनंद है।

यह सोचते और अपनी बुद्धिमत्ता पर गर्व करते हुए महाराज रामभजन पहले अपने घर पहुँचे। घर पहुँचते ही उन्होंने दो हज़ार के नोट अपनी संदूक़ में बंद करके ताला लगा दिया और अपनी माता तथा पत्नी से उनका कोई ज़िक्र नहीं किया। इसके पश्चात् उन्होंने अपने बड़े लड़के से दो आने की मिठाई मँगाई और थोड़ी-थोड़ी दोनों लड़कों को देकर शेष आपने खाई और एक लोटा पानी छानकर पिया। उनकी पत्नी विस्मित थी कि आज पति को यह कहाँ की फ़िज़ूलख़र्ची सूझी कि दो आने की मिठाई चट कर गए। पर कुछ कहने का साहस न हुआ। सोची—कहीं से पैसे मिल गए होंगे, जी न माना, मिठाई खा ली।

पानी पी चुकने के पश्चात् वह सीधे दूकान पहुँचे और मालिक के हाथ में सौ-सौ रुपए के दस नोट दे दिए।

मलिक ने पूछा—आज बड़ी देर लगाई?

महाराज बोले—लाला, आज करेंसी में बड़ी भीड़ थी। महा-मुश्किल में नोट मिले हैं। घंटा-भर खड़े रहना पड़ा।

लाला यह सुनकर चुप हो गए। उन्हें नोट कहीं बाहर भेजने थे, सो उन्होंने उसी समय उनका बीमा करा दिया। महाराज रामभजन ने निश्चिंतता की एक गहरी श्वास ली।

महाराज ने सोचा था कि आज ही नौकरी छोड़ देंगे। परंतु फिर ध्यान आया, ऐसा न हो कि किसी को कुछ संदेह हो जाय। अतएव चार-छः दिन ठहर जाना चाहिए।

रात को घर आए और भोजन करके अपनी चारपाई पर लेटे। थोड़ी देर में उनकी माता उनके पास आईं और सिरहाने बैठकर पंखा डुलाने लगीं। थोड़ी देर तक रामभजन पड़े यह सोचते रहे कि माता से सब हाल कह दें; परंतु साहस न होता था। अंत को यह तय किया कि अभी न बताना चाहिए। स्त्रियों के पेट में बात नहीं

पचती ; कहीं इधर-उधर कह दिया, तो उलटे लेने के देने पड़ जायँगे। यह सोचकर बोले—अम्माँ, अब तो हमारा जी नौकरी से ऊब गया। अब हमसे नौकरी नहीं होती। रात-दिन बैल की तरह जुते रहो और मिलने को बीस रुपल्ली।

माता—बेटा, रोज़गार के लिये तो रुपए चाहिए; कहाँ से आवेंगे?

रामभजन—रुपए भी हो ही जायँगे। जब जी में ठट जायगी, तो रुपए होते क्या देर लगेगी।

माता—कहाँ से हो जायँगे?

रामभजन—अरे अब इतने दिन से यहाँ काम करते हैं, तो क्या कोई हज़ार-दो-हज़ार रुपए भी उधार न देगा? सैकड़ों बनिए-महाजनों से जान-पहचान हो गई है; जिससे माँगेंगे, वही दे देगा।

उनकी पत्नी बैठी भोजन कर रही थी। उसने जो महाराज की ये लंबी-लंबी बातें सुनीं, तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगी—अभी उस दिन तो कह रहे थे कि हमें कौन रुपए देगा। हमारे पास कौन इलाक़ा धरा है। लड़के के मुंडन के लिये मालिक से पाँच रुपए माँगे, वह तक नहीं मिले। पाँच रुपए न होने के कारण मुंडन रुका हुआ है। और आज महाराज हज़ारों की बातें कर रहे हैं। कहते हैं, रुपया भी हो ही जायगा। यह मामला क्या है! कहीं आज भाँग तो नहीं पी आए!

उधर पत्नी यह सोच रही थी, इधर माता पुत्र से बोली—बेटा, सबसे पहले लड़के का मुंडन कर डालो, बड़ी बदनामी हो रही है।

रामभजन झल्लाकर बोले—बदनामी हो रही है, तो कर डालो। मना कौन करता है?

माता डरते-डरते बोली—कर काहे से डालें, रुपए भी तो हों!

रामभजन—कितने रुपए चाहिए?

माता—कम-से-कम पाँच रुपए तो हों। हेती-व्यवहारियों में बतासफेनी बटेंगी ; नाऊ को कुछ दिया जायगा।

रामभजन—भला बतासफेनी क्या बाँटोगी? बाँटो, तो मिठाई बाँटो।

माता—मिठाई में दस रुपए से कम नहीं लगेंगे।

रामभजन—लगेंगे तो लग जायँगे, क्या किया जाय। यह काम भी तो करना ही है। कल हम तुम्हें दस रुपए दे देंगे।

यह सुनते ही माता की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा।

उधर पत्नी सोचने लगी—ओहो! कहाँ पाँच का ठिकाना न था, और कहाँ अब दस ख़र्च करेंगे। या तो आज भाँग अधिक पी गए हैं या कहीं से रुपए मिल गए हैं।

यह सोचते ही पत्नी ने जल्दी-जल्दी भोजन समाप्त किया। इस समय उसके पेट में चूहे कूद रहे थे। वह वास्तविक बात जानने के लिये अत्यंत आतुर हो रही थी। उसने हाथ-वाथ धोकर सास से कहा—अम्माँ, लल्लू को सुला दो।

माता समझ गई कि बहू अपने पति के पास जाना चाहती है। अतएव वह वहाँ से हट गई। पत्नी ने आते ही पहला प्रश्न यह किया—सच बताओ, रुपए कहाँ मिले?

इतना सुनते ही रामभजन का मुखमंडल श्वेत हो गया ; परंतु अँधेरा होने के कारण उसकी पत्नी उसकी दशा न देख सकी। राम-भजन बोले—रुपए, कैसे रुपए?

पत्नी—मुझसे तो उड़ो नहीं। ये बढ़-बढ़कर बातें योंही मार रहे थे? आज तो ऐसी बात कर रहे थे, मानो लखपती हो। ऐसी बातें बिना रुपए के मुँह से कभी नहीं निकल सकतीं।

रामभजन काठ हो गए। सोचने लगे—निस्संदेह मैंने बड़ा गधा-पन किया, जो ऐसी बातें कीं। यह सोचकर तुरंत बोले—रुपया क्या ठीकरी है, जो मिल जायगा?

पत्नी—तो ये दस रुपए मुंडन के लिये कहाँ से आवेंगे ?

रामभजन—आवेंगे कहाँ से ? कहीं से उधार माँगकर लाऊँगा।

पत्नी—हमें उधार लेकर मुंडन नहीं करना है। और जो उधार लेना है, तो पाँच ही में काम चलाना चाहिए, दस ख़र्च करने की क्या ज़रूरत है ?

रामभजन—अरे हमने सोचा कि जब करना ही है, तो अच्छी तरह करें, जहाँ पाँच ख़र्च होंगे, वहाँ दस सही। एक रुपया महीना करके अदा कर देंगे।

पत्नी—और वह रोज़गार के लिये हज़ार-दो-हज़ार कौन देगा ?

रामभजन—तुम तो बात का बतंगड़ बनाती हो। कौन देगा ? हज़ार-दो-हज़ार कुछ होते ही नहीं ?

पत्नी—अम्माँ से तुम्हीं कह रहे थे कि हम जिससे चाहें, हज़ार-दो-हज़ार ले लें।

रामभजन—हाँ, तो झूठ थोड़े ही है। अब इतने नाख़ून भी नहीं गिर गए हैं, जो कहीं से हज़ार-दो-हज़ार माँगे भी न मिलें। मैं तो इस डर से नहीं लेता कि घाटा हो गया, तो दूँगा कहाँ से ?

पत्नी—हूँ, उस दिन मुझसे तो कुछ और ही कहते थे !

रामभजन—तुमने जैसा पूछा होगा, वैसा कह दिया होगा।

यह कहकर रामभजन ने नींद का बहाना करके अपना पिंड छुड़ाया।

दूसरे दिन जब महाराज रामभजन दूकान पहुँचे, तो उन्होंने नोटों की चर्चा सुनी। लाला हज़ारीमल अपने मुनीम से कह रहे थे—अजी, वह आदमी सरासर झूठ बोलता है। भला दो हज़ार के नोट कोई फेंक सकता है ? घर घर आया होगा।

मुनीम ने कहा—लाला, यह कैसे कहा जा सकता है ? उसका दीन-ईमान जाने। रही गिरने की बात, सो बहुधा ऐसा हो जाता है।

लालाजी—अजी, राम भजो ! ऐसा नहीं हो सकता । वह ज़रूर खा गया । ख़ैर पुलिस को इत्तिला दे दी गई है, वह मार-मार कर सब क़बुलवा लेगी ।

यह सुनते ही रामभजन की नीचे की साँस नीचे और ऊपर की ऊपर रह गई । हृदय में सब वृत्तांत जानने की उत्कंठा पैदा हुई । थोड़ी देर में चित्त स्थिर करके लाला से पूछा—लाला, क्या बात है ।

लाला—कल मुसद्दीलाल-रामसरन का आदमी करेंसी से दो हज़ार के नोट लाया था । दूकान पर आकर बोला कि नोट तो कहीं गिर गए । उसका कहना है कि उसने चादर के कोने में बाँध लिए थे । दूकान पर आकर जब नोट देने के लिये चादर देखी, तो गाँठ खुली पाई । अब इसमें दो ही बातें हो सकती हैं—या तो किसी ने खोल लिए और या वह ख़ुद ग़बन कर गया । गिर जाने की बात समझ में नहीं आती ।

रामभजन—तो अब क्या होगा ?

लाला—होगा क्या, उन्होंने उस आदमी को पुलिस को दे दिया है । जहाँ पुलीस ने जूता बरसाया, सब क़बूल देगा ।

रामभजन के हृदय में एक धक्का लगा । वह सोचने लगे—बेचारा एक निरपराध मुसीबत में फँसा हुआ है, और नोट हमारे पास हैं । रामभजन यह बैठे सोच ही रहे थे कि लाला ने उन्हें एक काम बता दिया ।

रामभजन वह काम करने के लिये चले, रास्ते में उत्सुकता उत्पन्न हुई कि चलो देखें, मुसद्दीलाल की दूकान पर इस समय क्या हो रहा है । यह सोचकर उधर ही से निकले । देखा, उनकी दूकान में दो-तीन पुलिस के आदमी बैठे हैं । सामने उनका नौकर खड़ा है । सब-इंस्पेक्टर साहब उससे कह रहे हैं—अबे तूने लिए हों, तो ठीक ठीक बता दे ।

नौकर हाथ जोड़कर बोला—सरकार, भगवान् जानते हैं, मैंने नहीं लिए। पाँच-पाँच हज़ार के नोट लाता रहा हूँ; लेता, तो पाँच हज़ार लेता, दो हज़ार क्यों लेता?

सब-इंस्पेक्टर—अबे, यह तू हमें क्या पढ़ाता है? इंसान की नीयत हमेशा एक-सी नहीं रहती। मुमकिन है, इस वक्त तुझे रुपयों की सख़्त ज़रूरत हो, इसलिये तूने ऐसा कर डाला हो।

नौकर—मालिक, अब मैं आपको कैसे समझाऊँ। ईश्वर देखनेवाला है। जिसने रुपए लिए हों उसका वंस नास हो जाय, उसके आगे-पीछे कोई न रहे।

इतना सुनते ही रामभजन का कलेजा दहल गया। सब-इंस्पेक्टर ने लाला से कहा—हम इसे कोतवाली लिए जाते हैं, वहीं यह क़बूलेगा। सीधी तरह न बतावेगा।

यह कहकर इंस्पेक्टर ने एक कांस्टेबल से कहा—इसके हथकड़ी लगाओ और थाने पर ले चलो। बात-की-बात में उसके हाथों में हथकड़ियाँ पड़ गईं। नौकर लाला के सामने नाक रगड़ने लगा। बोला—लाला, मुझे बचाओ; मैं जन्म-भर तुम्हारी गुलामी करूँगा। भगवान् जानते हैं, मैंने रुपए नहीं लिए। मेरे छोटे-छोटे बच्चे भूखों मर जायँगे, मेरी बुढ़िया मा यह ख़बर सुनते ही प्राण छोड़ देगी। तुम भगवान् हो, तुम्हारे लिये हज़ार-दो हज़ार कुछ नहीं, ब्याह-शादी में इतने की लकड़ियाँ जल जाती हैं। सरकार मेरा जनम न बिगाड़ो।

लाला ने उसकी बात पर ध्यान न दिया, मुँह फेर लिया, और कांस्टेबलों से इशारा किया कि ले जाओ। कांस्टेबल उसे घसीटने लगे। वह लाला की ओर गिरा पड़ता था और बिलख-बिलखकर रो रहा था। उसी समय एक कांस्टेबल ने उसके गाल पर एक ज़ोर का तमाचा मारा और कहा—साले, फ़ैल मचाता है? अभी क्या है, ज़रा कोतवाली चल, देख, वहाँ तेरी क्या गत बनती है!

यह कहकर कांस्टेबल उसे घसीटता हुआ ले चला। रामभजन यह सब देख-सुनकर पाषाण-मूर्ति-से हो गए। इस समय उसकी दशा पर रामभजन का हृदय रो रहा था। रामभजन सोच रहे थे—राम-भजन, इसके छोटे-छोटे बच्चे भूखों मरेंगे! अभी हमारी ऐसी दशा हो, तो हमारा लल्लू और कल्लू किसके सहारे जिएँ? हमारी पत्नी और माता क्या खाकर रहें? धिक्कार है ऐसे रुपए पर! ऐसे रुपए से तो हम भिखारी ही भले। इस बेचारे की आत्मा इस समय कितनी दुखी है! कोतवाली में न-जाने बेचारे की क्या दुर्दशा की जाय। इसका शाप अवश्य हम पर पड़ेगा। हमारे दो पुत्र हैं; उन पर इसकी आत्मा का शाप पड़ेगा। आँखों से इसकी दुर्दशा न देखते, तब भी ठीक था; पर अब तो अपनी आँखों से देख लिया; अब भी जो हम चुप बैठे रहेंगे, तो हमें नरक में भी ठौर न मिलेगा। रामभजन, ऐसे रुपए पर लात मार दो! एक का सर्वनाश करके यदि तुमने हज़ार-दो हज़ार ले ही लिए, तो वह फलेंगे नहीं; उलटा नाश कर देंगे। तुम्हारे दो लाल हैं, क्या रुपया तुम्हें उनसे अधिक प्यारा है? उन्हें कुछ हो गया, तो यह रुपया किस काम आवेगा?

रामभजन न-जाने कितनी देर तक खड़े यही सोचते रहे। उन्हें इस समय अपने तन-बदन का होश न था। हठात् एक गाड़ी की घड़घड़ाहट से उनकी नींद-सी टूटी। उन्होंने अपने चारों ओर देखा। इस समय उनके नेत्र अश्रु-पूर्ण हो रहे थे, और जान पड़ता था, अपने होश में नहीं हैं। हठात् वह तेज़ी के साथ एक ओर चल दिए।

एक घंटे बाद रामभजन लाला मुसद्दीलाल के पास पहुँचे, और बोले—लाला, आपसे एक बात कहनी है।

लाला मुसद्दीलाल रामभजन को पहचानते थे। उन्होंने कहा—कहो महाराज।

रामभजन—तनिक एकांत में चलिए।

मुसद्दीलाल एक कमरे में गए और बोले—कहो, क्या बात है?

रामभजन ने नोटों का बंडल निकालकर उनके हाथ में रख दिया।

मुसद्दीलाल चकित होकर बोले—यह क्या?

रामभजन—ये आपके दो हज़ार रुपए हैं। आपका वह नौकर बेक़सूर है। नोट सचमुच गिर पड़े थे, रास्ते में मुझे पड़े मिले थे। मुझे मालूम न था, किसके हैं, इसलिये मैंने इन्हें अपने पास रख लिया था। अब आज मालूम हुआ, तो लाया।

मुसद्दीलाल ने विस्मय, हर्ष तथा प्रशंसात्मक दृष्टि से रामभजन को देखा। इसके पश्चात् नोट गिने। नोट देखकर बोले—पर मैंने तो सब सौ-सौ के मँगाए थे, इसमें तो दस-दस के हैं?

रामभजन—अब यह बात मत पूछिए। एक आदमी को सौ-सौ के नोटों की ज़रूरत थी, उसे मैंने इनमें से दे दिए और उससे दस-दस के ले लिए। चाहे दस-दस के हों चाहे सौ-सौ के, इससे आपको क्या मतलब? दो हज़ार के तो हैं। लाला मुसद्दीलाल बोले—हाँ, पूरे दो हज़ार के हैं। यह कहकर उन्होंने दस-दस रुपए के दस नोट निकालकर रामभजन को दिए।

रामभजन ने पूछा—इन्हें क्या करूँ?

लाला—यह आपकी ईमानदारी का पुरस्कार है।

रामभजन—नहीं-नहीं, इन्हें रहने दीजिए। मैं ऐसा पुरस्कार नहीं चाहता।

लाला—नहीं, ये तो आपको लेने ही पड़ेंगे। आपकी बदौलत हमें ये मिले हैं। हम तो इनसे हाथ ही धो चुके थे। आप इन्हें न लेंगे, तो हमें रंज होगा।

रामभजन—ख़ैर, जैसी आपकी इच्छा। अब ईश्वर के लिये।

अपने उस नौकर को छुड़वा दीजिए, पुलिस उसकी दुर्दशा कर डालेगी।

लाला ने तुरंत अपना आदमी कोतवाली दौड़ा दिया।

घर आकर रामभजन माता से बोले—अम्माँ, लो ये २०) रुपए। इसमें लल्लू का मुंडन करो। साथ ही सत्यनारायण की कथा भी करा लेना।

माता ने चकित होकर पूछा—ये रुपए कहाँ पाए बेटा?

रामभजन—सत्यनारायण बाबा ने दिए हैं। सब उन्हीं का प्रताप है।

इसके पश्चात् पत्नी के हाथ में ८०) रु० रख दिए। पत्नी आनंद से गद्गद होकर बोली—कहाँ से ले आए?

रामभजन—सब सत्यनारायण बाबा की दया है। आदमी की नीयत ठिकाने रहनी चाहिए। ईश्वर सब भला ही करता है।

साध की होली

(१)

शाम के ६ बज चुके हैं। शेख़पुरे के ज़मींदार सज्जादहुसेन जंगल की हवा खाने निकले हैं। ज़मींदार साहब की वयस २५ वर्ष के लग-भग है। देखने में सुंदर हैं। अपने सौंदर्य पर उनको बड़ा गर्व है, अभिमान है। उनका यह नित्यकर्म-सा था कि शाम को अकेले निकलते और गाँव की स्त्रियों को, जो शौच इत्यादि से निवृत्त होने के लिये जंगल अथवा खेतों में आया करती थीं, छिपकर घूरा करते। जो स्त्री इन्हें पसंद आ जाती थी, उसे छेड़ते थे और फुसलाने की चेष्टा करते थे। जो सीधी तरह उनकी ओर आकर्षित न होती थी उसे साम, दाम, दंड, भेद से वश में लाने की चेष्टा करते थे। उनके इस घृणित कार्य से गाँव के निवासी अत्यंत दुःखी थे, पर किसी का इतना साहस न होता था कि उनके इस कार्य का विरोध खुले तौर पर करे। गाँव के दो-चार आदमी, जिन्हें यह बात किसी प्रकार सहन न हो सकी, गाँव छोड़कर चले गए थे।

आज भी नियमानुसार शेख़ साहब अपने दैनिक दौरे के लिये निकले थे। उनके भय से बहुत-सी स्त्रियाँ झुंड बाँधकर निकलती थीं और सब एकसाथ ही गाँव की ओर लौट जाती थीं। शेख़ साहब इधर-उधर घूमते-घामते गाँव के बाहर एक पोखर पर पहुँचे। उन्होंने थोड़ी दूर पर १०-१२ स्त्रियों को गाँव की ओर जाते देखा। यह देखकर वह कुछ क्षण के लिये ठिठक गए और स्त्रियों की ओर स्थिर दृष्टि से देखते रहे। तत्पश्चात् अपने-ही-आप मुसकिराकर धीरे-धीरे आगे बढ़े। हठात् उन्होंने देखा कि एक स्त्री उन स्त्रियों से बहुत पीछे छूट गई है।

यह देखकर उन्होंने अपनी चाल तेज़ की और कुछ क्षण में उस स्त्री के निकट पहुँच गए। कुछ अँधेरा हो गया था। वह स्त्री निश्चिंत भाव से बेधड़क धीरे-धीरे चली जा रही थी। उसका मुख खुला हुआ था। शेख़ साहब ने देखा स्त्री षोड़शी है, अधिक-से-अधिक १७-१८ वर्ष की वयस होगी। रंग गोरा, आँखें बड़ी-बड़ी और मुखमंडल मुग्धकर है। देखते ही लोट-पोट हो गए, हृदय में गुदगुदी उत्पन्न हो गई। पास पहुँचकर खखारा। षोड़शी ने चौंककर उनकी ओर देखा और एक पुरुष को अपने अत्यंत निकट आता हुआ देखकर घूँघट काढ़ तेज़ी के साथ गाँव की ओर बढ़ी। यह देखकर शेख़ साहब झट उसका रास्ता रोककर खड़े हो गए और बड़ी रसिकता के साथ बोले—क्यों, भागी क्यों जा रही हो? कुछ कुत्ता हूँ जो तुम्हें काट खाऊँगा।

षोड़शी उन्हें राह में खड़ा देखकर सिटपिटाकर खड़ी हो गई। उसका शरीर काँपने लगा। शेख़ साहब पुनः बोले—हमसे क्या परदा करती हो? तुम्हें शायद यह नहीं मालूम कि हम कौन हैं।

स्त्री ने इसका भी कुछ उत्तर न दिया। शेख़ साहब पुनः बोले—हम तुम्हारे इस गाँव के ज़मींदार हैं।

षोड़शी पुनः मौन रही। शेख़ साहब उत्तर की प्रतीक्षा करने के पश्चात् बोले—हमारी बात मानोगी, तो चैन करोगी। हम भी तुम्हारी कोई बात नहीं टालेंगे, जो कहोगी सो करेंगे।

इस बार षोड़शी ने कंपित-स्वर में केवल इतना कहा—राह छोड़ दो, मुझे जाने दो, देर होती है।

शेख़ साहब बोले—अच्छा जाओ, हमारी बात मानोगी, तो मज़े करोगी; नहीं तो पछताओगी। कल यहीं फिर मिलना।

यह कहकर शेख़ साहब ने रास्ता छोड़ दिया। षोड़शी तेज़ी के साथ गाँव की ओर चली।

शेख़ साहब आगे बढ़े। थोड़ी दूर पर एक वृद्धा अहीरिन कुछ

बकरियाँ लिए हुए जा रही थीं। उसके पास पहुँचकर शेख़ साहब ने कहा—कहो चौधराइन, अब लौटीं?

चौधराइन ने मुसकिराकर कहा—हाँ मालिक, आज तनिक देर हो गई।

शेख़ साहब ने कहा—चौधराइन, आज हमने एक नई औरत देखी, अभी बिलकुल नौजवान है। तुम्हें मालूम है, वह कौन है?

चौधराइन कुछ क्षण तक सोचकर मुसकिराते हुए बोली—हाँ चंदन सिंह के लड़के का गौना परसों हुआ है। वही होगी, गोरी-गोरी है?

शेख़ साहब—हाँ, आँखें बड़ी-बड़ी हैं।

चौधराइन—तो बस वही होगी, मालिक को सब ख़बर रहती है।

शेख़ साहब—गाँव के ज़मींदार हैं कि दिल्लगी? सब ख़बरें रखनी पड़ती हैं। सुनो चौधराइन, इस ठकुराइन को हमारे लिये ठीक कर दो, तो बड़ा काम करो।

चौधराइन मुसकिराकर बोली—मालिक के पसंद आई क्या?

शेख़ साहब—वह चीज़ ही ऐसी है। हाँ तो बोलो, ठीक कर दोगी?

चौधराइन कुछ क्षण तक सोचकर बोली—काम बड़ा कठिन है, पर कुछ जतन करूँगी।

शेख़ साहब—जो तुमने जतन कर दिया, तो तुम्हें इनाम मिलेगा।

यह कहकर शेख़ साहब एक ओर चल दिए।

(२)

ठाकुर चंदनसिंह एक साधारण किसान हैं। इनकी वयस ६० वर्ष के लगभग है। अतएव घर ही में पड़े रहते हैं, बाहर कम निकलते हैं। इनके दो पुत्र हैं। एक की वयस २४ वर्ष के लगभग है और दूसरे की २२ वर्ष के लगभग। बड़े का नाम शंकरबख़्शसिंह है और छोटे का रामसिंह। शंकरबख़्शसिंह का विवाह हो चुका है, गौना

अभी तीन ही चार रोज़ हुए, आया है। छोटा भाई रामसिंह अभी अविवाहित है।

घर की एक कोठरी में अंडी के तेल का दीपक टिमटिमा रहा है। शंकरबख़्श की पत्नी चुपचाप उदास भाव से बैठी है। हठात् किसी के आने की आहट पाकर उसने घूँघट खींच लिया और कुछ सिमट-कर बैठ गई। उसी समय शंकरबख़्शसिंह कोठरी के भीतर पहुँचा। कोठरी का एक किवाड़ बंद करके वह पत्नी के सामने बैठ गया। उसने बड़े प्यार से उसका घूँघट उलट दिया और उसकी ठोढ़ी में हाथ लगाकर उसका नत-मस्तक कुछ ऊपर को उठाया और हठात् कुछ देखकर वह चौंक पड़ा। उसके ओठों पर नृत्य करता हुआ मृदु-हास्य एकक्षण में विलीन हो गया। मुख-मंडल पर विराजमान प्रसन्नता की लालिमा लुप्त हो गई। उसने पूछा—हैं! तुम रो क्यों रही हो?

पत्नी ने कुछ उत्तर न दिया, मौन बैठी रही।

शंकरबख़्श ने पुनः प्रश्न किया—बोलो, रोती क्यों हो? क्या बात है, अम्माँ ने कुछ कहा है क्या?

पत्नी ने केवल सिर हिलाकर बताया कि अम्माँ ने कुछ नहीं कहा।

शंकरबख़्श—तो फिर रोने का कारण?

पत्नी मौन धारण किए बैठी रही।

शंकरबख़्श—बताओ, नहीं तो मैं उठकर चला जाऊँगा।

पत्नी ने इस बार मौन-व्रत भंग किया। वह बोली—तुम्हारे ज़मींदार राह में मिले थे।

शंकरबख़्श का मुँह पीला पड़ गया। घबराकर बोल उठा—हाँ-हाँ, तो फिर?

पत्नी—उन्होंने ऐसी-ऐसी बातें कहीं कि क्या कहूँ—यही मनाती थी कि धरती फट जाय और मैं समा जाऊँ।

शंकरबख़्श चुपचाप ओंठ चबाने लगा। कुछ देर तक मौन रहने के

पश्चात् बोला—वह बड़ा बदमाश आदमी है। गाँव-भर उससे डरता है। उसके डर के मारे कोई स्त्री अकेली बाहर नहीं जाती। ख़ैर, जो हुआ सो हुआ, अब अकेली मत जाना।

पत्नी ने कहा—जब वह ऐसे हैं, तो यहाँ रहते क्यों हो?

शंकरबख़्श—रहें न, तो जायँ कहाँ? पुराने पुरखों का घर-द्वार छोड़ दें?

पत्नी—ऐसा घर-द्वार किस काम का? जहाँ इज़्ज़त-आबरू में बट्टा लगे! इन्हें कोई ठीक भी नहीं कर देता?

शंकरबख़्श—इन्हें भगवान् ही ठीक करेंगे, और कौन कर सकता है? ज़मींदार हैं, उनके सामने बात कौन कर सकता है? ज़रा कोई बोले, जूते लगवा दें। घर फुकवा दें। वह सब कुछ करा सकते हैं।

पत्नी—जब लोग इतना डरते हैं, तो अपनी बहू-बेटियाँ भी उन्हें सौंप देते होंगे?

शंकरबख़्श—सो तो कोई भला आदमी नहीं करता। सब अपनी-अपनी ख़बरदारी रखते हैं।

पत्नी—पत्थर ख़बरदारी रखते हैं। आज ही जो वह मेरे हाथ लगा देता, तो तुम क्या करते? वहाँ मुझे कौन बचानेवाला था?

शंकरबख़्श—अरे हाथ लगाना दिल्लगी नहीं है!

पत्नी—मेरे मायके में ऐसा ज़मींदार होता, तो बोटी-बोटी उड़ा दी जाती।

शंकरबख़्श—अँगरेज़ी अमलदारी है, बोटी-बोटी उड़ाना सहज नहीं है।

पत्नी—अपनी जान का इतना डर है, तभी तो राह चलते वह दाढ़ीजार बहू-बेटियों को छेड़ता है और किसी के कान पर जूँ नहीं रेंगती, सब चूड़ियाँ पहने बैठे हैं! क्या कहूँ, जो मैं मर्द होती तो नासमारे की छाती पर चढ़कर ख़ून पी लेती। मैं उस बाप की बेटी

हूँ कि अभी जो वह यह सुन पावें, तो यहीं आकर और उसके घर में घुसकर हड्डी-पसली तोड़ दें।

शंकरबख़्श—ये सब कहने की बातें हैं, पराए पूत से काम पड़ता है, तो सब सिट्टी-पिट्टी भूल जाती हैं, फिर वह तो ज़मींदार हैं। ख़ैर, जो हुआ सो हुआ, अब तुम चिंता मत करो। तुम्हारे साथ कल से मुहल्ले की स्त्रियाँ जाया करेंगी।

षोडशी चुप हो गई। उसके ओठों पर घृणा-युक्त मुसकिराहट एक क्षण के लिये आकर पुनः विलीन हो गई।

(३)

उस दिन से शंकरबख़्श की पत्नी कई स्त्रियों के साथ जाने लगी। इस कारण फिर शेख़ साहब को कुछ कहने का साहस न हुआ।

होली निकट आ गई थी, केवल तीन दिन रह गए थे। एक दिन चौधराइन शंकरबख़्श के घर आई। एकांत पाकर उसने शंकर-बख़्श की पत्नी से कहा—मालिक ने पूछा है कि क्या ठकुराइन हमसे नाराज़ हो गई हैं?

षोडशी ने भृकुटी चढ़ाकर पूछा—कौन मालिक?

चौधराइन—वही हमारे गाँव के ज़मींदार शेख़जी। बड़े भले आदमी हैं। जिस पर ख़ुश हो जाते हैं, निहाल कर देते हैं। तुम बड़ी भागवान् हो, जो तुम पर उनकी नज़र पड़ी है।

षोडशी ने कहा—तू बक क्या रही है?

चौधराइन युवती की वक्र दृष्टि से कुछ भयभीत होकर बोली—उन्होंने जो कहा है, सो हम तुमसे कहती हैं। हमारा इसमें क्या क़सूर है?

युवती ने पूछा—उन्होंने क्या कहा है?

चौधराइन—कहा है कि सीधी तरह मान जायँगी, तो निहाल कर देंगे, नहीं तो बड़ी दुर्दशा कराएँगे, रात में ज़बरदस्ती उठवा

मँगाएँगे। सो ठकुराइन, वह सब करा सकते हैं, गाँव के ज़मींदार हैं।

क्रोध से युवती के ओंठ फड़कने लगे, आँखें लाल हो गईं। बोली—उस तुरक से कह देना कि जो उसके जी में आवे करे, मैं उस पर थूकूँगी भी नहीं। क्या करूँ, मेरी ससुरालवाले सब ज़नखे हैं, नहीं तो मज़ा चखा देती। ख़ैर, अब भी मेरे बाप-भाई जीते हैं, बहुत अत्ति करेंगे, तो पछताएँगे, यह कह देना। और तू हरामज़ादी जो अब कभी मेरे घर आई, तो चैले से टाँगें तोड़ दूँगी, इतना याद रखना।

चौधराइन ठकुराइन का चंडी-रूप देखकर डर गई। चुपचाप कान दबाए उठकर चली गई।

(२)

युवती का शरीर इस अपमान से रात-दिन जला करता था। उसके शरीर में उस पिता का रक्त था जो बात, मान, प्रतिष्ठा और आबरू के सम्मुख अपने प्राणों का, अपने प्रिय-से-प्रिय आत्मीय के प्राणों का, भी कोई मूल्य न समझता था। वह जब सोचती थी कि वह मेरा इतना अपमान करने के पश्चात् भी बैठा चैन की बंशी बजा रहा है, मेरे पास सँदेशे भेजता है, मुझे घमकाता है, तब उसका ख़ून खौलने लगता था। कभी-कभी वह सोचती थी, मैं स्वयं उससे मिलने के बहाने जाऊँ और उसकी हत्या कर डालूँ। परंतु जब वह यह सोचती थी कि वह इतनी पराधीन है कि उसके लिये ऐसा करना संभव नहीं। साथ ही यह भी सोचती थी कि यदि ऐन मौक़े पर उसको सफलता न मिली और उसकी आबरू चली गई, तो फिर क्या रह जायगा? इन्हीं सब बातों को सोचकर वह ख़ून के-से घूँट पीकर रह जाती थी।

होलिका-दाह की संध्या थी। शंकरबख़्श का छोटा भाई रामसिंह बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक आकर युवती से बोला—भौजी, कल हमारी-तुम्हारी होली होगी, तैयार रहना। भौजी मौन रही। रामसिंह पुनः बोला—भौजी, कल मैं तुमसे पहली बार होली खेलूँगा। देखो तो कल तुम्हारी क्या गति बनती है, ऐसी होली कभी न खेली होगी। हाँ, ज़रा हुशियार रहना।

इस बार युवती ने बड़ी गंभीरता-पूर्वक सिर उठाकर कहा—मुझसे होली खेलोगे, देवर?

रामसिंह—मुसकिराकर बोला—हाँ तुमसे, तुमसे।

भौजी—मुझसे होली खेलने लायक़ तुम्हारे घर में है कौन?

रामसिंह उसी प्रकार सरल स्वभाव से बोला—मैं हूँ।

भौजी—तुम हो?

रामसिंह—(छाती ठोंक कर) हाँ, मैं हूँ।

भौजी—मुझे विश्वास नहीं होता?

रामसिंह—कल हो जायगा।

भौजी—मेरे साथ होली खेलने को रंग कहाँ पाओगे?

रामसिंह—रंग तो मैंने शहर से बहुत-सा मँगाया है।

भौजी—उस रंग से मैं होली नहीं खेलूँगी।

रामसिंह—तो और जैसा रंग कहो वैसा रंग लाऊँ।

भौजी—लाओगे?

रामसिंह—हाँ, लाऊँगा।

भौजी—नहीं ला सकोगे।

रामसिंह—लाऊँगा भौजी, ज़रूर लाऊँगा, कहके देख लो। रुपए तोले मिलेगा तब भी लाऊँगा!

भौजी—वह रंग रुपए से नहीं मिलेगा।

रामसिंह विस्मित होकर बोला—तब काहे से मिलेगा, भौजी?

मौजी—अपने प्राणों से हाथ धोने से।

रामसिंह इतना सुनते ही सन्नाटे में आ गया। मौजी देवर को मौन देखकर बोली—बस, चुप हो गए? इसी बिरते पर बढ़-बढ़-कर बातें मारते थे?

रामसिंह का मुख-मंडल लज्जा से लाल हो गया। वह तुरंत छाती ऊँची करके बोला—चाहे जो हो, लाऊँगा, मौजी ज़रूर लाऊँगा, बताओ। तुमसे होली खेलने की साध है, उसे पूरी करके छोड़ूँगा, चाहे जो हो, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ।

मौजी—लाओगे?

रामसिंह—हाँ लाऊँगा, लाऊँगा, बताओ।

मौजी—अपने ज़मींदार का रक्त लाओ। उसीसे मैं तुम्हारे साथ होली खेलूँगी।

सुनते ही रामसिंह दो पग पीछे हट गया। उसका मुँह पीला पड़ गया।

मौजी ठहाका मारकर बोली—घबड़ा गए? मैं जानती थी, तुम नहीं ला सकोगे।

रामसिंह बोला—यह तुम क्या कहती हो मौजी? ज़मींदार ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?

मौजी—क्या बिगाड़ा है, यह सुनना चाहते हो? सुनो!

यह कहकर मौजी ने सब वृत्तांत रामसिंह को सुना दिया। राम-सिंह सुनते ही सिंह की तरह गरज उठा। बोला—तुमने यह सब भैया से नहीं कहा?

मौजी—कहा था।

रामसिंह—फिर?

मौजी—उन्हें आबरू से अधिक अपने प्राणों का भय है?

रामसिंह—यह बात है?

भौजी—हाँ यही बात है। नहीं तो मैं तुमसे क्यों कहती। आज मेरा बाप-भाई यहाँ होता, तो भी क्या मैं इतना अपमान सहती?

इतना कहकर भौजी ने मुँह पर आँचल रखकर रोना आरंभ किया।

रामसिंह कुछ क्षण तक खड़ा सोचता रहा, तत्पश्चात् बोला—बाप-भाई नहीं हैं तो न सही, भौजी तुम्हारा देवर है। भौजी, निश्चिंत होकर बैठो। कल सवेरे रंग लाकर तुम्हारे साथ होली खेलूँगा।

यह कहकर रामसिंह शीघ्रता-पूर्वक वहाँ से चला गया।

❀ ❀ ❀

प्रातःकाल होते ही युवती ने नित्य-कर्म से निवृत्त होकर एक सफ़ेद धोती पहन ली और देवर के आने की प्रतीक्षा करने लगी। उसका हृदय आशा तथा निराशा में झूल रहा था। उसको पूर्ण रूप से यह विश्वास नहीं हुआ कि उसका देवर अपना वचन पूरा करेगा।

गाँव में चारों ओर "होली है, होली है" की चीत्कार मची हुई थी। शंकरबख़्श रंग में तर-बतर हँसता हुआ पत्नी के पास आया और बोला—क्यों कैसे बैठी हो? होली नहीं खेलोगी? आओ खेलो।

पत्नी ने एक तीव्र दृष्टि डालकर कहा—मैं पहले अपने देवर के साथ होली खेलूँगी, तब एक दूसरे के साथ खेलूँगी।

शंकरबख़्श—अच्छा यह बात है? पर रामसिंह तो आज मुँह अँधेरे ही से ग़ायब है, न-जाने कहाँ चला गया है।

युवती का हृदय धड़कने लगा। उसने पति की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। हठात् दहलीज से रामसिंह का कंठ-स्वर सुनाई पड़ा—"भौजी, तैयार हो जाओ, रंग ले आया।"

इतना कहता हुआ रामसिंह लोटा हाथ में लिए आकर भौजी के सामने खड़ा हो गया। उसके कपड़ों पर रक्त वर्ण की छींटें पड़ी हुई थीं।

भौजी का मुख खिल उठा। वह खड़ी हो गई। रामसिंह ने लोटे में से एक चुल्लू लेकर भौजी के कपड़े पर छींटा मारा। उस छींटे के पड़ते ही

क्षत्राणी के शरीर में विद्युत्-धारा-सी दौड़ गई। वह बोली—देवर, सचमुच तुम मेरी इच्छा का रंग लाए। मैं यही रंग चाहती थी। रामसिंह हँसता हुआ बोला—"मैंने कहा था कि भौजी मैं तुम्हारे साथ होली जरूर खेलूँगा।" इतना कहकर उसने लोटे में से दूसरा चुल्लू लेकर भौजी के गालों पर मल दिया।

शंकरबख़्श खड़ा यह लीला देख रहा था। वह कह उठा—अरे, यह तो रक्त मालूम होता है?

भौजी ने देवर के हाथ से लोटा छीनकर उसको उस रक्त से नहला दिया और विकट हास्य करके बोली—देवर, आज होली है!

रामसिंह भी बोल उठा—होली है!

शंकरबख़्श आगे बढ़े। युवती ने कहा—खबरदार! तुम आगे मत बढ़ो। यह रंग तुम्हारे लिए नहीं है! इसका एक बूँद भी तुम्हें नहीं मिलेगा।

शंकरबख़्श पत्नी का रूप देखकर डर गया। वह चार पग पीछे हटकर बोला—पर यह क्या है? रंग तो नहीं मालूम होता।

युवती—यह उस ज़मींदार का रक्त है जिसके भय के मारे तुम अपनी बहू-बेटी तक उसको अर्पण करने को तैयार रहते थे।

इतना सुनते ही शंकरबख़्श चिल्लाकर वहाँ से भाग खड़े हुए।

भौजी ने फिर कहा—देवर, होली है?

रामसिंह ने कहा—भौजी, होली है।

इतने ही में द्वार पर बड़ा कोलाहल सुनाई पड़ा।

रामसिंह ने कहा—भौजी, तुमसे होली खेल ली। साध पूरी हो गई। अब जाता हूँ।

भौजी—कहाँ?

रामसिंह—फाँसी लटकने।

भौजी—अरे, तो क्या जान से मार डाला?

रामसिंह—प्राण रहते अपना इतना रक्त कौन देता, भौजी ?

भौजी—हाय ! यह मैंने क्या किया ?

इतना कहकर भौजी मूर्च्छित होकर गिरने लगी। रामसिंह ने उसे दौड़कर सँभाला और धीरे से भूमि पर लिटा दिया। फिर बोला—भौजी, जाता हूँ।

भौजी ने एक बार आँखें खोलकर कहा—देवर जाओ, यह मेरी इस जन्म की अंतिम होली है !

रामसिंह—तो क्या अब होली नहीं खेलोगी, भौजी ?

भौजी—खेलूँगी।

रामसिंह—किससे ?

भौजी—तुमसे ?

रामसिंह—मुझसे ?

भौजी—हाँ, तुमसे।

रामसिंह—कहाँ ?

भौजी—स्वर्ग में।

रामसिंह—तब तो मैं वहाँ शीघ्र पहुँचता हूँ, भौजी।

भौजी—जाओ देवर, तुमसे पहले मैं पहुँचूँगी।

सच्चा कवि

(१)

राजदर-बार में नए कवि की कविता सुनने के लिये यथेष्ट संख्या में रईसों तथा दरबारियों की भीड़ एकत्र हुई थी। सब लोग अपने-अपने स्थान पर शिष्टता-पूर्वक बैठे हुए महाराज के आने की राह देख रहे थे। एक ओर एक युवक, जिसकी अवस्था २५ वर्ष के लगभग थी, सिर झुकाए चुपचाप बैठा था। महाराज के सिंहासन के निकट एक अर्द्धवयस्क सज्जन, जो राज-कवि थे, बैठे हुए अपनी मूछें मरोड़ रहे थे, और बीच-बीच में युवक पर एक तीव्र दृष्टि डालकर सिर झुका लेते थे। उनके मुख पर व्यंग्य-पूर्ण मृदु-हास्य की एक हलकी रेखा दौड़ जाती थी।

सहसा महाराज के सिंहासन के पीछे पड़ा हुआ मख़मली परदा हटा, और दो चोबदार चाँदी की छड़ियाँ लिए हुए आकर सिंहासन के दोनों ओर खड़े हो गए। उनमें से एक ने दरबारी ढंग से महाराज के आने की सूचना दी। सब लोग सँभलकर बैठ गए।

फिर मख़मली परदा हटा, और एक ३० वर्ष का सुंदर मनुष्य आँखों में चकाचौंध पैदा कर देनेवाले वस्त्र तथा जवाहरात-जड़े गहने पहने बड़ी शान के साथ धीरे-धीरे सिंहासन की ओर आया। उसे देखकर सब लोग खड़े हो गए, और सबने दरबारी शिष्टता के अनुसार प्रणाम किया। सबके प्रणाम के उत्तर में महाराज ने केवल सिर हिला दिया, और आकर सिंहासन पर बैठ गए। सिंहासन के दाहिनी ओर एक वृद्ध सज्जन, जिनके मुख पर विद्वत्ता तथा अनुभव-शीलता के चिह्न विद्यमान थे, खड़े थे। महाराज के बैठ जाने पर वह भी अपने

स्थान पर बैठ गए। थोड़ी देर तक दरबार में पूरा सन्नाटा रहा। तदनंतर महाराज ने दाहिनी ओर बैठे हुए वृद्ध सज्जन से धीमे स्वर में कुछ कहा। वृद्ध सज्जन उठे और उन्होंने एक युवक की ओर देखकर कहा—"मोहनलाल !"

युवक तुरंत खड़ा हो गया, और उसने कहा—श्रीमन् !

वृद्ध—महाराज तुम्हें देखना चाहते हैं। आगे आओ।

युवक अपने वस्त्र सँभालता हुआ, शिष्टता-पूर्ण निर्भीकता के साथ, धीरे-धीरे महाराज के सिंहासन के सम्मुख आकर खड़ा हुआ। उसने एक बार फिर महाराज को प्रणाम किया, और चुपचाप हाथ बाँध-कर खड़ा हो गया। महाराज ने एकाबार युवक को सिर से पैर तक ध्यान-पूर्वक देखा। उनके मुख पर संतोष की रेखा झलक उठी। उन्होंने वृद्ध सज्जन से धीमे स्वर में कहा—"इस युवक को देखकर मैं बहुत संतुष्ट हुआ।" फिर महाराज ने युवक की ओर देखकर कहा—"मोहनलाल, मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुम एक अच्छे कवि हो। अच्छा, अपनी रचना सुनाओ।"

मोहन ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। उसने चुपचाप गंभी-रता-पूर्वक अपनी जेब से एक काग़ज़ निकाला; कुछ काँपती हुई उँगलियों से उस काग़ज़ को खोला; एक दृष्टि राजकवि की ओर डाली, और कविता पढ़ना शुरू कर दिया।

मोहन ने पहले धीरे-धीरे पढ़ना शुरू किया। क्रमशः उसका स्वर उच्च हो चला। कविता के भावों के साथ-साथ युवक कवि का स्वर घटने-बढ़ने लगा। उसके हाथ हिलने लगे। कवि अपने को भूल गया। वह भूल गया कि मैं राज-दरबार में एक शक्तिशाली राजा के सामने खड़ा कविता पढ़ रहा हूँ। वह भूल गया कि मेरे चारों ओर राज्य के बड़े-बड़े पदवीधारी, उपाधिधारी, धनी, मानी लोग बैठे हैं। कवि सब कुछ भूल गया—वह अपना अस्तित्व भी भूल गया। राज-

सभा के सब लोग मंत्र-मुग्ध की तरह कवि की कविता सुनने में मग्न हो गए। राजकवि भी इस अल्पवयस्क कवि के मुख पर अपनी स्थिर दृष्टि जमाए हुए कविता सुनने में तल्लीन थे।

कविता समाप्त हुई। कवि को अपनी परिस्थिति का ज्ञान हुआ। वह पुनः शिष्ट तथा गंभीर हो गया। इधर सुननेवालों की भी नींद-सी उचटी। सबने "वाह-वाह" की बौछार कर दी। महाराज ने भी कहा "ख़ूब! बड़ी सुंदर रचना है।" पर ये सब प्रशंसात्मक शब्द युवक कवि के मुख पर किंचिन्मात्र प्रसन्नता तथा गर्व का भाव न ला सके। कवि का मुख उसी प्रकार गंभीर तथा भावना-शून्य रहा वह अपनी दृष्टि राजकवि पर जमाए चुपचाप काग़ज़ को लपेट रहा था। राजकवि चुपचाप सिर झुकाए बैठे थे। उनके मुख से कविता अथवा कवि के प्रति एक भी प्रशंसात्मक शब्द न निकला था। सहसा महाराज ने राजकवि की ओर देखकर कहा—"कहिए कविजी, इस युवक की कविता कैसी रही?" राजकवि ने सिर ऊपर उठाया, और दम-भर कुछ सोचकर उत्तर दिया—"कविता बुरी नहीं है।"

महाराज के मुख पर एक हलकी-सी मुसकिराहट झलक गई। अन्य उपस्थित लोग भी राजकवि के इस उत्तर पर मुसकिरा दिए। सब परस्पर कानाफूसी करने लगे। कोई कहता था—"राजकवि तो जी में जल मरे होंगे।" कोई कहता था—"कविजी महाराज अपने सामने भला दूसरे की प्रशंसा कैसे करें।" इसी प्रकार सब लोग राजकवि के प्रशंसा न करने का कारण केवल ईर्षा समझ रहे थे। परंतु इधर मोहनलाल ने ज्यों ही राजकवि के ये वाक्य सुने कि कविता बुरी नहीं है, त्यों ही उसके मुखपर प्रसन्नता की लालिमा दौड़ गई। उसने एक दीर्घ निःश्वास इस प्रकार छोड़ी, जिस प्रकार कोई व्यक्ति घोर परिश्रम करने के पश्चात् उस परिश्रम का उचित प्रतिफल पाने पर पूर्ण संतुष्ट होकर दीर्घ निःश्वास छोड़ता है। कवि ने महाराज

को प्रणाम किया और धीरे-धीरे आकर अपने स्थान पर बैठ गया।

(२)

राजकवि पं० चंडीप्रसाद "प्रवीण" काव्य-चूड़ामणि अपने घर में बैठे थे। भोजन का समय हो गया था; परंतु प्रवीणजी किसी चिंता में मग्न थे। उन्हें भोजन करने की सुधि ही न थी। उसी समय उनके अष्टादस-वर्षीय पुत्र ने आकर कहा—पिताजी, चलिए, भोजन कीजिए।

प्रवीणजी ने कहा—आज मैं भोजन नहीं करूँगा।

पुत्र ने पूछा—क्यों?

प्रवीणजी ने उत्तर दिया—मुझे क्षुधा नहीं है।

पुत्र—कुछ जी ख़राब है क्या?

प्रवीण—नहीं, कुछ भूख ही नहीं है।

पुत्र चला गया। उसके चले जाने के बाद कुछ देर में प्रवीणजी की पत्नी आई। उन्होंने पूछा—क्यों, आज भोजन क्यों नहीं करते, कुछ जी ख़राब है क्या?

प्रवीणजी ने एक दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—क्या बताऊँ!

पत्नी—क्यों, बताओगे क्यों नहीं?

प्रवीण—आज एक छोकरे के सामने महाराज ने मेरा अपमान किया?

पत्नी—कैसे?

प्रवीण—"एक युवक कवि न-जाने कहाँ से आ मरा। महाराज को उसने अपनी कविता सुनाई। कविता अच्छी थी; पर उस कविता पर जितना उसे पुरस्कार दिया गया, वह अनुचित था।

पत्नी—तो उसका भाग्य! इसमें तुम्हारा अपमान क्या हुआ?

प्रवीण—तुम इन बातों को क्या समझ सकती हो? मेरा बड़ा

अपमान हुआ ! मैंने ऐसी कविताएँ लिखीं कि उनमें अपना कलेजा निकालकर रख दिया ; पर मुझे महाराज ने इतना पुरस्कार कभी नहीं दिया । इसके अतिरिक्त महाराज ने उसको भी "राजकवि" की उपाधि देकर अपने यहाँ नौकर रख लिया है ।

पत्नी—रख लिया तो क्या हुआ ? कुछ वह तुम्हारा भाग्य तो छीन ही न लेगा ।

प्रवीण— तुम स्त्री-जाति इन बातों को क्या जानो ? जब एक ही कविता सुनकर उनकी यह दशा हो गई कि उचितानुचित का ध्यान न कर उस छोकरे को मेरे सामने इतना सम्मान दिया, तो आगे न-जाने क्या होगा !

पत्नी—तो जब होगा तब होगा, तुम अभी से अपना जी क्यों कुढ़ाते हो ? चलो, भोजन करो चलके ।

प्रवीण—भोजन क्या करूँ । मैं सोचता था कि यदि यह नालायक अंबिकाप्रसाद (पुत्र का नाम) किसी लायक होता, तो मेरे पीछे इसी को राजकवि का स्थान मिलता । अब मेरे पीछे की कौन कहे, मेरे होते हुए ही एक दूसरा व्यक्ति वह स्थान छीने लिए जा रहा है । इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या होगा ?

पत्नी—तुम तो उस दिन कहते थे कि अंबिका अब अच्छी कविता कर लेने लगा है ।

प्रवीण—कविता क्या कर लेने लगा—हाँ, जो जी लगावे और परिश्रम करे, तो कर सकता है । पर वह तो जी ही नहीं लगाता ।

पत्नी—तो अभी उसकी उमर ही क्या है ? बच्चा तो है ही । जैसे-जैसे सयाना होगा, जी भी लगावेगा ।

प्रवीण—अब सयाना और कब होगा । वह भी तो अभी लड़का ही है । अधिक से-अधिक २४-२५ वर्ष का होगा ।

पत्नी—लो, कहाँ १८ वर्ष और कहाँ २५ वर्ष ! सात वर्ष का अंतर है। सात वर्ष कुछ होते ही नहीं ? सात वर्ष में तो युग पलट जाता है।

प्रवीण—युग नहीं पत्थर पलट जाता है ! अभी से न करेगा, तो सात वर्ष नहीं, चाहे चौदह वर्ष भी हो जायँ, जैसे-का-तैसा ही रहेगा।

पत्नी—अच्छा तो अब इन बातों को छोड़ो। चलो, भोजन करो चलके। जो कुछ होगा, देखा जायगा। कोई हमारी तक़दीर तो छीन ही न ले जायगा।

प्रवीणजी ने पत्नी के बहुत कुछ समझाने-बुझाने तथा आग्रह करने पर भोजन किया। इसके पश्चात् वह उसी समय कविता लिखने बैठ गए। उन्होंने निश्चय कर लिया, चाहे जिस तरह हो, इस युवक कवि की जड़ उखाड़नी ही पड़ेगी ; क्योंकि यदि इसी तरह वह महाराज के हृदय पर अधिकार जमाता गया, तो एक दिन वह अवेगा, जब उनको महाराज की नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा।

(२)

रात के आठ बज चुके हैं। महाराज अपने अंतःपुर के एक सुसज्जित कमरे में, मख़मली कोच पर, लेटे हैं। सामने बहुमूल्य क़ालीनों पर कुछ सुंदर स्त्रियाँ बैठी गा-बजा रही हैं। परंतु महाराज का ध्यान गाने की ओर बिलकुल नहीं है। वह किसी दूसरी ही चिंता में डूबे हुए हैं। उसी समय एक दास ने आकर कहा—"महाराज, राजकवि प्रवीणजी श्रीमान् के पास आना चाहते हैं।"

महाराज कुछ चौंककर बोले—क्या कहा—प्रवीणजी आना चाहते हैं ?

दास—हाँ श्रीमन्।

महाराज कुछ देर तक सोचते रहे। फिर बोले—अच्छा, आने

दो। दास के चले जाने पर महाराज ने गानेवालियों की ओर हाथ से इशारा किया। उन्होंने गाना बंद कर दिया, और उठकर चली गईं।

दास चला गया। थोड़ी देर में प्रवीणजी आए। उन्होंने पहले बहुत ही झुककर महाराज को प्रणाम किया। फिर वह धीरे-धीरे समीप आकर सामने शिष्टता-पूर्वक खड़े हो गए।

महाराज ने मुसकिराकर कहा—कहिए प्रवीणजी, क्या समाचार हैं?

प्रवीण—समाचार सब अच्छे हैं। इस समय एक कविता लिखी थी। जी न माना; इच्छा हुई, इसी समय चलकर सुनाऊँ। श्रीमान् का यह मनोरंजन का समय भी है।

महाराज—हाँ-हाँ, कोई हर्ज नहीं। सुनाइए।

प्रवीणजी ने कविता सुनाना शुरू किया। महाराज चुपचाप सुनते रहे। कविता वास्तव में बहुत अच्छी बनी थी। महाराज बहुत प्रसन्न हुए। कविता समाप्त हो जाने पर महाराज ने कहा—प्रवीणजी, आज तो आपने चमत्कार-पूर्ण कविता लिखी है।

प्रवीणजी बोले—यह सब श्रीमान् का अनुग्रह है। दास वृद्ध और शिथिल हो चला हूँ, पर अभी जो कुछ लिख-पढ़ सकता हूँ, उसकी टक्कर का लिखनेवाला आस-पास के दो-चार राज्यों में न निकलेगा।

महाराज ने कुछ मुसकिराकर कहा—इसमें क्या संदेह है।

प्रवीण—परंतु श्रीमान् ने मुझमें न-जाने क्या त्रुटि देखी, जो मेरे होते हुए एक छोकरे को रख लिया। क्या मैं श्रीमान् की आज्ञा का पालन करने में असमर्थ समझा गया?

महाराज—नहीं प्रवीणजी, यह बात तो नहीं है। मैं तो केवल यह समझता हूँ कि गुण की क़दर अवश्य होनी चाहिए। यदि ऐसा न होगा, तो गुणों का लोप होजायगा।

प्रवीण—यह ठीक है श्रीमान्, परंतु गुण-ग्राहकता उतनी ही होनी चाहिए, जितनी की उचित हो।

महाराज कुछ भौंहें सिकोड़कर बोले—तो क्या आप मुझ पर यह दोषारोपण करते हैं कि मैंने कुछ अनुचित गुण-ग्राहकता से काम लिया है ?

महाराज को कुछ अप्रसन्न होते देख प्रवीणजी का हृदय काँप उठा। वह हाथ जोड़कर बोले—"नहीं श्रीमान्, ऐसा कहने की धृष्टता मैं कदापि नहीं कर सकता। मेरा तात्पर्य यह है कि श्रीमान् ने जो उदारता दिखाई है, उसके योग्य वह युवक कदापि नहीं।"

महाराज अधिक अप्रसन्न होकर बोले—इसका भी अर्थ वही है; केवल शब्दों का हेर-फेर है।

स्वार्थ मनुष्य को अंधा कर देता है। प्रवीणजी इस समय स्वार्थ के इतने वशीभूत हो गए थे कि उन्हें इसका ध्यान ही नहीं रहा कि कौन बात कहनी चाहिए और कौन नहीं। वह केवल इसलिये व्याकुल हो रहे थे कि जैसे बने, वैसे महाराज का हृदय मोहनलाल की ओर से फेर दें। इस व्याकुलता और जल्दी ने उनको बड़ी भद्दी परिस्थिति में डाल दिया।

महाराज को अधिकतर अप्रसन्न होते देखकर कविजी महाराज ने लड़खड़ाती हुई जिह्वा से कहा—नहीं श्रीमन्, मेरा यह तात्पर्य कदापि नहीं। मेरे कहने में कुछ फ़र्क़ पड़ गया है, इसके लिये श्रीमान् मुझे क्षमा करें।

महाराज प्रवीणजी की हास्यास्पद घबराहट देखकर हँसी न रोक सके। वह ज़ोर से हँस पड़े। महाराज को हँसते देख कविजी की जान-में-जान आई। उन्होंने कहा—क्या करूँ श्रीमन्, वृद्ध हो चला हूँ। सब इंद्रियाँ शिथिल होती जा रही हैं। कहना कुछ चाहता हूँ, मुँह से निकलता कुछ है।

महाराज हँसते हुए बोले—प्रवीणजी, अभी तो आप कह रहे थे कि इस समय भी आप जो कुछ लिख-पढ़ सकते हैं, उसकी टक्कर का लिखनेवाला आस-पास में कोई है ही नहीं ?

प्रवीण—हाँ श्रीमन्, यह तो मैं अब भी कहता हूँ। जहाँ तक कविता का संबंध है, वहाँ तक मेरी बुद्धि बड़ी प्रखर है। पर वैसे साधारण बातचीत में भ्रम हो जाता है।

महाराज उसी प्रकार हँसते-हँसते बोले—अरे, कोई मोहनलाल को तो बुलाओ।—प्रवीणजी, आपने ऐसी सुंदर कविता लिखी है कि मैं चाहता हूँ, मोहनलाल भी उसे इसी समय सुने।

एक दास तुरंत मोहनलाल को बुलाने के लिये गया। मोहनलाल इस स्थान में परदेशी था, और अकेला भी। अतएव उसे महल से मिले हुए मकानों में से एक मकान रहने के लिये दे दिया गया था।

इधर मोहनलाल के बुलाने की बात सुनकर प्रवीण मन-ही-मन बड़े कुढ़े। पर करते क्या ? बेचारे चुपचाप खड़े रहे। परंतु थोड़ी देर में मन-ही-मन यह सोचकर कि अच्छा है, उन्होंने अपने जी को ढाढ़स दिया।

थोड़ी देर में मोहनलाल आ गया। मोहनलाल को देखते ही महाराज ने कहा—अरे भाई मोहन, देखो, हमारे प्रवीणजी ने कैसी सुंदर कविता लिखी है।—हाँ प्रवीणजी, ज़रा फिर से पढ़िए।

प्रवीणजी ने दूने आवेश के साथ कविता पढ़नी शुरू की। कविता समाप्त होने पर महाराज ने मोहन से पूछा—क्यों कैसी कविता है ?

मोहनलाल ने कहा—क्या बात है ! प्रवीनजी की टक्कर का लिखनेवाला इधर तो कोई है ही नहीं। यदि छोटा मुँह बड़ी बात न समझी जाय, तो मैं यह कहूँगा कि प्रवीणजी श्रीमान् की सभा के भूषण हैं।

प्रवीणजी ने अपने प्रति मोहनलाल के ये शब्द अवाक् होकर सुने। वह नहीं समझ सके कि मोहनलाल ने ये शब्द यथार्थ प्रशंसा में कहे, अथवा व्यंग्य से।

महाराज ने कहा—सुनिए प्रवीणजी, मोहनलाल क्या कहता है।

मोहनलाल ने कहा—मैं जो कुछ कहता हूँ, शुद्ध हृदय से कहता हूँ। मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मुझे प्रवीणजी की सेवा में रहने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। मैं कविता लिखना सीख जाऊँगा।

महाराज ने प्रवीणजी की ओर एक रहस्य-पूर्ण दृष्टि से देखा। उस दृष्टि में ये भाव थे कि देखा तुमने? तुम्हारे प्रति मोहन के ऐसे उच्च भाव हैं, और तुम्हारे उसके प्रति ऐसे नीच!

प्रवीणजी ने इस दृष्टि का तात्पर्य समझ लिया। उन्होंने मर्माहत होकर अपनी आँखें नीची कर लीं। उन्हें बड़ा दुःख हुआ। इस समय भी उन्होंने मोहन के आगे अपनी पराजय समझी। केवल महाराज की उस दृष्टि ने यह फ़ैसला कर दिया कि मोहन विजयी हुआ, और प्रवीणजी, आप परास्त!

(४)

उक्त घटना के बाद प्रवीणजी मोहनलाल से और भी अधिक घृणा करने लगे। वह उसके कट्टर शत्रु हो गए। उन्होंने सोचा—इसी दुष्ट के कारण मैं महाराज की दृष्टि से गिरता जा रहा हूँ। यदि यह न आता, तो यह नौबत काहे को पहुँचती। यह कल का छोकरा संत बनने का ढोंग रचकर मुझे महाराज की दृष्टि से गिरा रहा है। कितना चालाक है, कितना धूर्त है! मैं बड़ा बुद्धि-हीन हूँ, जो अपने हृदय के भाव स्पष्ट खोल देता हूँ। यदि मैं भी इसी की तरह संत बनने का ढोंग रचूँ, तो अच्छा रहे। परंतु नहीं, मुझसे तो ढोंग कदापि न रचा जायगा। मैं तो शुद्ध-हृदय मनुष्य हूँ, जैसा भीतर, वैसा बाहर। मुझे कपट नहीं आता। जिसको मित्र समझूँगा

उसे हृदय में भी मित्र समझूँगा और बाहर भी; और जिसे शत्रु समझूँगा, उसे हृदय में भी शत्रु समझूँगा और बाहर भी। कुछ भी हो, मैं इस ढोंगी युवक को दरबार से निकलवाकर ही छोड़ूँगा। कल का छोकरा मेरे सामने राजकवि बनकर बैठा है। इसमें संदेह नहीं कि कभी-कभी दुष्ट बड़े गहरे भाव लाता है। पर इससे क्या हुआ? अब तो पगड़ी उलझ ही गई है; मैं भी ऐसी-ऐसी कविताएँ लिखूँगा कि महाराज स्वयं कह देंगे कि प्रवीणजी, मोहनलाल क्या कविता लिखेगा, वह तो आपके सामने छोकरा है। हुँह! मोहनलाल राजकवि! राजकवि प्रवीण के सिवा भला और कौन हो सकता है? एक म्यान में दो तलवारें कभी नहीं रह सकतीं। या तो वही राजकवि रहेगा या मैं ही।

इसी तरह की बातें सोचकर प्रवीणजी ने नए उत्साह के साथ कविताएँ लिखना शुरू कर दिया। इसमें संदेह नहीं कि प्रवीणजी बड़े अच्छे कवि थे, बड़ी सुंदर कविताएँ लिखते थे। इधर मोहनलाल की प्रतिद्वंदिता के कारण वह बड़ी अच्छी कविताएँ लिखने लगे थे। उधर मोहनलाल भी अच्छी कविताएँ लिखता था। इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए।

एक दिन महाराज ने एक समस्या दी, और मोहनलाल तथा प्रवीनजी, दोनो से उसकी पूर्ति करने के लिये कहा। समस्या-पूर्ति के लिये एक सप्ताह का समय दिया गया।

एक सप्ताह बीत जाने पर महाराज ने दोनों कवियों को बुलवाया। प्रवीणजी समस्या-पूर्ति करके ले आए थे; पर मोहनलाल नहीं लाया था। महाराज ने पूछा—क्यों मोहन, तुमने पूर्ति की?

मोहन ने उत्तर दिया—नहीं श्रीमन्, मैंने तो नहीं की।

महाराज ने विस्मित होकर पूछा—क्यों? क्या समय कम दिया गया था।

प्रवीणजी बीच ही में बोल उठे—समय यथेष्ट था। इससे अधिक समय और क्या होता!

महाराज ने कहा—हाँ, समय यथेष्ट था। मैंने स्वयं सोच-समझकर समय दिया था। फिर भी पूर्ति न करने का क्या कारण है?

मोहनलाल चुप रहा।

महाराज ने पूछा—क्यों, क्या कारण हुआ? क्या तुम्हारी समझ में समय कम था?

मोहनलाल ने कहा—नहीं श्रीमन्, समय तो यथेष्ट था।

महाराज—फिर?

मोहनलाल—श्रीमन्, उस समस्या की पूर्ति में मेरा कुछ जी नहीं लगा।

महाराज की भौंहें तन गईं। उन्होंने कहा—क्या कहा जी नहीं लगा।

मोहनलाल—हाँ श्रीमन्।

महाराज अधिकतर क्रुद्ध होकर बोले—क्यों? जी न लगने का कारण?

मोहनलाल चुप रहा।

महाराज कुछ उत्तेजित होकर बोले—क्यों, तुम उत्तर क्यों नहीं देते?

मोहनलाल अभी तक सिर झुकाए खड़ा था। अब सीधा तनकर खड़ा हो गया। उसने कहा—श्रीमन्, कविता लिखना कुछ खेल नहीं है। संसार की कोई शक्ति कवि से ज़बरदस्ती कविता नहीं लिखा सकती। कवि की जब इच्छा होगी, जब उसका जी चाहेगा, जब उसे स्फूर्ति होगी, तभी वह कविता लिखेगा। किसी की आज्ञा का पालन करने के लिये कवि कभी कविता नहीं लिखता। जो केवल

आज्ञा-पालन करने के लिये कविता लिखते हैं, वे सच्चे कवि नहीं, वरन् घृणित तुच्छ हैं। मैं अत्यंत शिष्टता-पूर्वक श्रीमान् से यह निवेदन करूँगा कि जो सच्चा कवि है, वह केवल अपनी इच्छा और अपने हृदय का दास होता है, अन्य किसी का नहीं। यदि श्रीमान् ने मुझे केवल इसलिये अपने चरणों में आश्रय दिया है कि जब, जिस समय और जिस विषय पर श्रीमान् आज्ञा करें, उसी विषय पर, उसी समय पर, मैं कविता लिखूँ, तो मैं अपने में इतनी क्षमता नहीं पाता। अतएव अत्यंत दीनता-पूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि मैं भविष्य में श्रीमान् की सेवा करने के सर्वथा अयोग्य हूँ। इस कारण, यदि श्रीमान् आज्ञा दें, तो कल अपने देश को लौट जाऊँगा।

यह कहकर मोहनलाल ने महाराज को झुककर प्रणाम किया, और चुपचाप महाराज के सामने से चला गया।

मनुष्य चाहे जितना स्वार्थी, हठधर्मी, क्रोधी तथा अत्याचारी हो, परंतु निर्भीकता-पूर्वक कही हुई सच्ची और सीधी बात उसके हृदय पर प्रभाव अवश्य डालती है, चाहे वह एक क्षण ही के लिये क्यों न हो।

महाराज मोहनलाल की निर्भीकता-पूर्वक, परंतु साथ ही शिष्टता-पूर्ण, कही गई बातों से इतने प्रभावित हुए कि जब मोहनलाल उनके सामने से चला गया, तब उन्हें यह ध्यान आया कि वह एक शक्ति-संपन्न राजा हैं और मोहनलाल एक साधारण मनुष्य। अब उनके राजसी रक्त ने ज़ोर मारा। उनका मुख क्रोध के मारे लाल हो गया। उन्होंने प्रवीणजी की ओर देखकर कहा—आपने इस लड़के की धृष्टता देखी!

महाराज को क्रुद्ध देखकर प्रवीणजी मन-ही-मन अत्यंत प्रसन्न, परंतु ऊपर से गंभीर होकर बोले—श्रीमन्, अपराध क्षमा हो। मैं तो पहले ही से कहता था कि यह लड़का राज-सभाओं के योग्य कदापि नहीं है। परंतु—

महाराज प्रवीणजी की बात पूरी होने के पूर्व ही बोल उठे—आपने सत्य कहा था। पर मैंने यह सोचकर कि युवक होनहार है, और प्रोत्साहन मिलने से एक अच्छा कवि होगा, इसे आश्रय दिया था। मगर यह जो कहा है कि जो जिसका पात्र नहीं, उसके साथ वैसा व्यवहार करने से परिणाम बुरा होता है, वही हुआ। ख़ैर, मैं इसे इसका समुचित दंड दूँगा।

प्रवीणजी बोल उठे—निश्चय दंड देना चाहिए। इससे लोगों को मालूम होगा कि एक शक्तिशाली राजा के सामने धृष्टता करने का यह परिणाम होता है।

महाराज ने उसी समय यह आज्ञा निकाली कि मोहनलाल तुरंत गिरफ़्तार करके कारागार में डाल दिया जाय।

प्रवीणजी महाराज की इस आज्ञा से मन-ही-मन अत्यंत प्रफुल्लित होकर घर लौटे। उन्होंने सोचा—उनकी मनोकामना पूरी हुई; उनके मार्ग का काँटा दूर हो गया।

(५)

उक्त घटना हुए छः मास व्यतीत हो गए। मोहनलाल कारागार में पड़ा हुआ जीवन के दिन व्यतीत कर रहा है।

इधर प्रवीणजी अपने पुत्र अंबिकाप्रसाद को राजकवि बनाने के लिये जी-जान से चेष्टा कर रहे हैं। परंतु प्रतिभा ईश्वर-दत्त होती है। वह चेष्टा और परिश्रम करने से उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि प्रतिभा चेष्टा और परिश्रम से उत्पन्न हो सकती, तो संसार में उसका उतना मूल्य और आदर न होता, जो अब तक रहा है, और है। अंबिकाप्रसाद कविता तो करने लगा, परंतु उसकी कविताएँ अत्यंत साधारण होती थीं। उनमें कोई चमत्कार न था। प्रवीणजी यह देखकर बड़े हताश हुए। उन्होंने सोचा—जान पड़ता है, राजकवि की उपाधि मेरे ही तक है। हा ! मैं तो चाहता था कि यह कम-से-कम दो-चार पीढ़ियों तक

रहती और मेरा नाम चलता ; पर विधाता की इच्छा नहीं है। कितने आश्चर्य की बात है कि मेरा सगा पुत्र मेरे ही रक्त-वीर्य से बना हुआ है; पर उसमें वह बात नहीं उत्पन्न होती, जो मुझमें है।

ऐसी ही बातें सोचकर प्रवीणजी का हृदय बड़ा दुःखी हुआ ; परंतु फिर भी उन्होंने चेष्टा नहीं छोड़ी।

शाम का समय था। महाराज अपने बाहरी राजकक्ष में बैठे हुए थे। पास ही मंत्री तथा राजसभा के कुछ अन्य सभ्य बैठे थे। प्रवीणजी एक कविता सुना रहे थे। कविता समाप्त होने के कुछ समय उपरांत महाराज ने कहा—"प्रवीणजी, आपकी यह कविता तो साधारण रही। इसमें कोई विशेष बात नहीं है।" सभासदों ने भी महाराज की बात का समर्थन किया। तब प्रवीणजी कुछ अप्रतिभ होकर बोले—"महाराज, यह कविता जिस समय मैंने लिखी थी, उस समय जी कुछ ख़राब था। इसलिये अच्छी नहीं बनी।"

महाराज ने कहा—कवि लोग तो जी ख़राब होने के समय कविता लिखते ही नहीं। आप भी अभी तक ऐसा ही करते रहे हैं।

प्रवीणजी—हाँ श्रीमन्। यह तो श्रीमान् का कथन उचित ही है। ख़ैर, मैं कल ही एक सुंदर कविता बनाकर श्रीमान् की सेवा में उपस्थित करूँगा।

एक सभासद बोल उठा—प्रवीणजी, जिन दिनों मोहनलाल का आपका साथ था, उन दिनों आपने जो कविताएँ लिखीं, वे अपूर्व थीं। वैसी कविताएँ आपने उसके पहले भी कभी नहीं लिखी थीं; और अब तो, बुरा न मानिएगा, आपकी कविताएँ अत्यंत साधारण होती हैं।

प्रवीणजी ने उक्त सभासद की ओर तीव्र दृष्टि डाली, और बोले—मेरी कविताओं से और मोहनलाल से क्या संबंध ?

सभासद—मोहनलाल से संबंध कुछ भी नहीं है; परंतु उसके राजकवि रहने तक के काल से संबंध अवश्य है।

उसी समय महाराज बोल उठे—हाँ, यह तो आपने बड़ी बारीक बात कही। मैं भी कुछ ऐसा ही समझता हूँ। प्रवीणजी, यह बात बिलकुल ठीक है कि आपकी कविता में अब वह मधुरता, वह गहनता, वह चमत्कार नहीं रहता, जो उस समय रहता था, जब मोहनलाल राजकवि था। इसका क्या कारण है?

प्रवीणजी हत-बुद्धि होकर बोले—श्रीमन्, मैं क्या कारण बताऊँ? मैं स्वयं नहीं जानता कि क्या कारण है। अच्छा, कल मैं श्रीमान् को एक कविता सुनाऊँगा। आशा है, उसे सुनकर श्रीमान् का यह विचार जाता रहेगा।

महाराज ने कहा—अच्छी बात है, सुनाइएगा।

प्रवीणजी उस दिन रात को एक बजे तक बैठे कविता लिखते रहे। परंतु लिख चुकने पर जब उन्होंने उसे आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ा, तो वह स्वयं उन्हें पसंद न आई। उन्होंने फिर उसे परिष्कृत किया।

दूसरे दिन जब महाराज को कविता सुनाई, तो उन्होंने कहा—कविता अच्छी है; पर वह बात नहीं आई।

प्रवीणजी भी हृदय में समझते थे कि महाराज की यह बात ठीक है। प्रवीणजी ने महाराज से कुछ न कहा। उदास होकर घर आए।

रात को उन्होंने सोचना शुरू किया—क्या कारण है कि अब वैसी सुंदर कविता नहीं बनती, जैसी कि मोहनलाल के समय में बनती थी? अब हृदय में वह तरंग ही नहीं उठती, वह जोश ही नहीं उत्पन्न होता; वे भाव ही नहीं उदय होते। न इस बात की परवा रहती है कि कविता सर्वांग सुंदर हो, उसमें कहीं ढूँढने पर भी कमज़ोरी न मिले।

सोचते-सोचते उनके ध्यान में यह बात आई कि उस समय उन्हें यह चिंता रहती थी, यह भय रहता था कि कहीं मोहनलाल की कविता उनकी कविता से बढ़ न जाय। वह यह सहन नहीं कर सकते थे कि उनकी कविता मोहनलाल की कविता से हेठी रहे। उनके सामने प्रत्येक समय यह उद्देश रहता था कि ऐसी कविता लिखी जाय, जिसके आगे मोहनलाल की कविता धूल हो जाय। इसी कारण उस समय उनके हृदय में उमंग रहती थी, जोश रहता था। प्रतिद्वंद्वी को परास्त करने की धुन उस समय उनकी कवित्व-शक्ति को जाग्रत् रखती थी। प्रतिद्वंद्विता का भय उन्हें अपनी कविता सर्वांगसुंदर बनाने के लिये विवश करता था। मोहनलाल से प्रतियोगिता का भाव उन्हें इस बात के लिये विवश करता था कि वह नए-नए भाव अपनी कविता में लावें। परंतु अब वह बात नहीं रही। प्रतिद्वंद्वी का भय नहीं है; न इस बात की चिंता है कि किसी की कविता से उनकी कविता की तुलना की जायगी; न इस बात का डर है कि यदि दूसरे की कविता उनकी कविता से बढ़ गई, तो उनकी सारी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायगी। जब ये सब बातें नहीं रहीं, तो अब न वह उमंग है, न वह जोश; न वह परिश्रम है, न वह सूझ। जिस प्रकार शत्रु के आक्रमण का भय होने से मनुष्य की आँख नहीं झपकती, वह हर समय चैतन्य रहता है, उसी प्रकार प्रतिद्वंद्वी के भय के कारण उनकी प्रतिभा सचेत रहती थी। पर जिस प्रकार जब मनुष्य को किसी का भय नहीं रहता, तो वह आराम से पैर फैलाकर सो जाता है, उसी प्रकार प्रतिद्वंद्वी का भय न रहने से उनकी प्रतिभा भी सो गई।

प्रवीणजी ने सोचा, तो इससे यह निष्कर्ष निकला कि उन्होंने उस समय जो इतनी अपूर्व कविताएँ लिखीं, उसका कारण केवल मोहनलाल की प्रतिद्वंद्विता ही थी। ओफ़! यदि यह बात थी, तो

उसका मेरा प्रतिद्वंद्वी बनकर रहना मेरे लिये हितकर था। जिस बात को मैंने अपने लिये अहितकर समझा था, वह मेरे लिये परम हित-कर थी।

आज प्रवीणजी की आँखें खुल गईं। वह अपने जीवन की एक बड़ी भूल को समझ गए। वह सच्चे कवि थे और एक सच्चे कवि का हृदय रखते थे। वह संसार में कविता से अधिक किसी को न प्यार करते थे। जिस व्यक्ति के कारण उनकी कविताएँ सर्वप्रिय हुईं, जिसके कारण उनकी कविता ने ऐसा मोहन-रूप धारण किया कि सबको मुग्ध कर लिया, उससे अधिक संसार में उनका प्यारा और कौन हो सकता है? प्रवीणजी के मुख से निकला—"हा! मोहन, मैंने उस समय तुम्हारा मूल्य नहीं समझा था, घृणित स्वार्थ ने मुझे अंधा कर दिया था।" कवि की आँखों से अश्रु-धारा बह चली, वह बच्चों की तरह रोने लगे।

❀ ❀ ❀

प्रवीणजी महाराज के सामने हाथ जोड़े खड़े थे। महाराज ने पूछा—कहिए प्रवीणजी, आप क्या कहना चहते हैं?

प्रवीणजी ने कहा—महाराज, मैं श्रीमान् का पुराना दास हूँ। मैंने श्रीमान् की बहुत सेवा की है; और अभी जब तक जीवित हूँ, करता रहूँगा। आज तक मैंने श्रीमान् से कभी कुछ याचना नहीं की। जो कुछ श्रीमान् ने स्वेच्छा से हाथ उठाकर दे दिया, वह ले लिया, और सदैव संतुष्ट रहा। परंतु आज मैं श्रीमान् से एक भिक्षा माँगता हूँ।

महाराज ने उत्सुक होकर मुसकिराते हुए कहा—प्रवीणजी, आज आप इतनी दीनता क्यों प्रकट कर रहे हैं? मैंने आपको ऐसी दीनता प्रकट करते हुए इसके पहले कभी नहीं देखा।

प्रवीणजी—महाराज मैं, अपनी कविता के लिये सब कुछ कर सकता

हूँ। आज मेरी परम प्यारी कविता पर घोर संकट है। इसीलिये मैं श्रीमान् के सामने इतना दीन बनने को विवश हुआ।

महाराज उसी प्रकार मुसकिराते हुए बोले—क्यों, क्यों, उस पर क्या संकट आ पड़ा?

प्रवीणजी के नेत्रों से आँसू बहने लगे। उन्होंने कहा—वह मोहनलाल के साथ कारागार में बंद है।

महाराज का मुख एकदम गंभीर हो गया। उन्होंने कहा—क्या कहा, मोहनलाल के साथ कारागार में बंद है?

प्रवीणजी ने आँसू पोछते हुए कहा—हाँ श्रीमन्।

महाराज—तो आप क्या चाहते हैं?

प्रवीणजी—यही कि मोहनलाल को मुक्त करके उसे उसी पद पर नियुक्त कीजिए, जिस पर वह था।

महाराज—परंतु प्रवीणजी, वह तो आपका प्रतिद्वंद्वी है।

प्रवीणजी—हाँ, ऐसा प्रतिद्वंद्वी है, जैसा प्रतिद्वंद्वी मनुष्य को बड़े सौभाग्य से मिलता है। ऐसा प्रतिद्वंद्वी है जिस पर मनुष्य गर्व कर सकता है! वह ऐसा प्रतिद्वंद्वी है कि ईश्वर सबको ऐसा ही प्रतिद्वंद्वी दे। जब तक वह मेरे सामने रहा, तब तक मेरी कविता की उन्नति हुई। आपने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा था कि मोहनलाल के समय में मैंने जो कविताएँ लिखीं, वे अद्वितीय हैं।

महाराज—हाँ, यह बात तो मैं अब भी कहता हूँ।

प्रवीणजी—तो महाराज, जिस प्रतिद्वंद्वी ने मुझसे ऐसी कविताएँ लिखवाईं, उस प्रतिद्वंद्वी का मिलना कितने बड़े सौभाग्य का सूचक है! जिस दिन से वह कारागार गया, उसी दिन से मेरी कवित्व-शक्ति भी लुप्त हो गई। वह उसी के साथ चली गई। अतएव मैं यही भिक्षा माँगता हूँ कि उसे मुक्त कर दीजिए।

महाराज ने कुछ देर तक सोचकर कहा—अच्छा, आपने आज

प्रथम बार मुझसे याचना की है; मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा।

महाराज ने उसी समय मोहनलाल को मुक्त करने की आज्ञा निकाली।

मोहनलाल कारागार से मुक्त करके महाराज के सामने लाया गया।

प्रवीणजी ने दौड़कर उसे गले से लगा लिया, और महाराज से बोले—श्रीमन्, आज से यह मेरा पुत्र है। मेरे बाद आपकी सभा में मेरे आसन पर यही बैठेगा।

महाराज ने विस्मित होकर कहा—पर आपका पुत्र अंबिका-प्रसाद?

प्रवीणजी—वह मेरे आसन के सर्वथा अयोग्य है। वह मेरे शरीर का पुत्र है, और मोहनलाल मेरी आत्मा का। इस लिये मेरे आसन का उत्तराधिकारी यही है।

महाराज ने प्रवीणजी पर एक प्रशंसात्मक दृष्टि डालकर कहा—प्रवीणजी, आप सच्चे कवि हैं।

पथ-निर्देश

(१)

दोपहर का समय है। कॉलेज में इंटरवल हुआ है। वहीं कंप
उंड में, एक वृक्ष की छाया में, दो लड़के घास पर बैठे हैं। दोनो सम
वयस्क हैं; दोनों की उमर क़रीब २०-२० वर्ष की होगी। दोनों परस्प
बातें कर रहे हैं। एक कह रहा था—भई, मेरा तो यह अंतिम वर्ष है
यदि इस वर्ष पास हो गया, तो पढ़ना छोड़ दूँगा, और चार पैसे
कमाने का उद्योग करूँगा।

दूसरा बोला—बस केवल बी० ए० ही पास करके छोड़ दोगे,
एम्० ए० न करोगे ?

पहले ने उत्तर दिया—बस इतना ही काफ़ी है।

पहला—कम-से-कम एम्० ए० तो पास कर लो।

दूसरा—एम्० ए० की गुंजाइश नहीं। वृद्ध माता-पिता यह आशा
लगाए बैठे हैं कि लड़का पढ़-लिख ले, तो कुछ कमाई करे, घर की
दरिद्रावस्था दूर हो। और तुम सोचते हो कि पढ़ते-पढ़ते बुड्ढे हो
जायँ।

दूसरा—अच्छा घनश्याम, एक बात पूछता हूँ, ठीक-ठीक उत्तर
देना।

घन०—पूछो, यथाशक्ति और यथाबुद्धि ठीक ही उत्तर दूँगा।

दूसरा—तुम्हारे जीवन का लक्ष्य क्या है ?

घन०—प्रश्न तो बड़ा बेढब है।

दूसरा—कोई साधारण प्रश्न नहीं है घनश्याम। ख़ूब सोच-समझ-
कर उत्तर देना।

घन०—मेरे जीवन का लक्ष्य यही है कि ईश्वर सुख-शांति के साथ खाने-पहनने-भर को देता जाय, बस।

दूसरा—यह तो कोई अच्छा उत्तर नहीं। इस उत्तर से तो यही ज्ञात होता है कि तुम्हारे जीवन का कोई विशेष लक्ष्य नहीं है। क्यों न?

घन०—तुम क्या इसे साधारण लक्ष्य समझते हो? सुख-शांति के साथ पेट भरने को भोजन और तन ढकने को वस्त्र मिलते जाना क्या कोई साधारण बात है?

दूसरा—अरे यार, बस रहने दो। पेट-भर भोजन और वस्त्र तो संसार में सभी को मिल जाता है, इसमें ख़ास बात कौन-सी है?

घन०—मैंने जो बात कही है उसे पहले समझ लो, फिर कोई राय क़ायम करो। मेरा मतलब यह है कि भोजन और वस्त्र तो मिल ही जाता है; परंतु सुख-शांति तो बड़े भाग्यवान् ही पाते हैं।

दूसरा—तुम्हारी यह बात कुछ जँची नहीं।

घन०—तुम्हें न जँचे; पर है यह तथ्य की बात। जब इस पर विचार करोगे, तब इसकी गंभीरता और महत्त्व समझोगे। यह बात बहुत दूर तक जाती है।

दूसरा—पत्थर दूर तक जाती है! परंतु इसमें तुम्हारा दोष नहीं। जितनी तुम्हारी हैसियत है, उसी के अनुसार तुम्हारा हृदय है; और जितना हृदय है, उतनी ही बात कहोगे। तुम सुख-शांति से रोटी-कपड़ा मिलने को ही बहुत बड़ी बात समझ रहे हो।

घन०—निस्संदेह, मैं तो इतने ही को ईश्वर की सबसे बड़ी देनगी समझता हूँ।

दूसरा—यह तो वही कहावत हुई कि भूखे से किसी ने प्रश्न किया, दो और दो कितने होते हैं? भूखे ने तुरंत उत्तर दिया—"चार रोटियाँ!" वैसी ही बात तुमने कही।

वन०—ख़ैर भई, जो तुम समझो, वही सही। अच्छा बतलाओ, तुम्हारा क्या लक्ष्य है?

दूसरा—मेरा लक्ष्य? मेरा लक्ष्य है रुपए कमाना; और मामूली रुपए नहीं, लाखों। मेरे जीवन का पहला लक्ष्य यह है कि मैं लक्षाधीश बनूँ। लक्ष्य के लिये लक्षाधीश कितना सुंदर आया है, न कहोगे?

वन०—क्या बात है आपकी! आख़िर कवि ही तो ठहरे।

दूसरा—यदि मैंने अपने जीवन में दस-पाँच लाख रुपए न पैदा किए, तो समझूँगा, मेरा जीवन व्यर्थ गया।

वन०—दस-पाँच लाख कमाने से तुम सुखी हो जाओगे?

दूसरा—यार, तुम पूरे चोंच ही रहे! जिसके पास दस लाख होंगे, वह सुखी न होगा, तो फिर कौन होगा? सारे सुखों की खान रुपया ही है। जिसके पास रुपया है, उसके सामने सब प्रकार के सुख हाथ जोड़े खड़े रहते हैं।

वन०—संभव है, तुम्हारा विचार ठीक हो; परंतु मुझे तो इसमें संदेह है।

दूसरा—संदेह हुआ ही चाहे। कभी इतना रुपया आँखों से तो देखा न होगा, फिर उसके सुख की कल्पना कैसे कर सकते हो?

वन०—यार विश्वेश्वरनाथ, तुम भी कभी-कभी बच्चों की-सी बातें करने लगते हो। क्या अब मुझमें इतनी बुद्धि भी नहीं कि मैं यह भी कल्पना न कर सकूँ कि धन से मनुष्य को क्या-क्या सुख प्राप्त हो सकते हैं? कवि बायरन ने, जो कभी भी जेलख़ाने नहीं गया था, 'प्रिज़नर ऑफ़् शेलान'-काव्य में एक क़ैदी की मानसिक अवस्था का कितना सुंदर और सच्चा चित्र खींचा है। उसे पढ़कर तो सहसा यह विश्वास नहीं होता कि वह ऐसे व्यक्ति का लिखा हुआ है, जो कभी जेलख़ाने में नहीं रहा। कल्पना में बड़ी शक्ति है। विश्वेश्वर, इसी

कल्पना के बल पर कवि लोग बड़ी-बड़ी अद्भुत बातें सोच डालते हैं—"जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।"

विश्वेश्वर—तो यह कहिए, आप कवि हैं! यह तो मुझे आज मालूम हुआ।

घन०—केवल तुकें भिड़ानेवाले कवि नहीं कहलाते, और न पद्य बनानेवाले ही कवि कहलाने के अधिकारी हैं। जो व्यक्ति संसार को, संसार के चित्र को, अपनी कल्पना-शक्ति से, अपनी कुशाग्र बुद्धि से शब्दों का ऐसा सुंदर और आकर्षक जामा पहनाता है कि जो उसे देखता है, मुग्ध हो जाता है, वही सच्चा कवि है, फिर वह चाहे गद्य-लेखक हो या पद्य-लेखक।

विश्वेश्वर—केवल शब्दाडंबर का नाम कविता नहीं है। कवि वह है, जो संसार के सम्मुख कोई आदर्श उपस्थित करे, कोई नई बात रक्खे।

घन०—नया आदर्श और नई बात बहुत-से आदमी रखते हैं। महात्मा, नेता, दार्शनिक, आविष्कारक, चित्रकार इत्यादि भी नए आदर्श, नए सिद्धांत और नई बात लोगों के सामने रखते ही हैं; पर वे कवि नहीं कहे जा सकते। कवि तो वही है जिसकी शब्द-योजना में आकर्षण हो, जादू हो, जो साधारण-से-साधारण बात भी इस ढंग से कहे कि सुननेवाले मुग्ध हो जायँ।

उसी समय सहसा कॉलेज की घंटी बजी। दोनों चौंक पड़े। घनश्याम बोला—बातों-बातों में वक्त हो गया, कुछ मालूम न हुआ। (उठकर) चलो, चलें।

दोनों बातें करते हुए धीरे-धीरे चल दिए।

(२)

उपर्युक्त घटना को हुए दस वर्ष व्यतीत हो गए। इस बीच में संसार में न-जाने कितने परिवर्तन हो गए, न-जाने कितने पैदा हुए,

कितने मरे, कितने बने और कितने बिगड़े। विश्वेश्वरनाथ इतने समय में विलायत से बैरिस्टरी पास करके लौट आए, प्रैक्टिस आरंभ कर दी, और वह चलने भी लगी। इधर घनश्यामदास ने बी० ए० पास करने के बाद एल्० टी० की परीक्षा भी पास कर ली। दो-तीन वर्षों तक तो वह इधर-उधर अध्यापक रहे; परंतु एक वर्ष से अपने ही नगर के गवर्नमेंट-स्कूल में सेकेंड मास्टर हैं। वेतन १२०) रुपए मासिक मिलता है। घर में वृद्ध माता-पिता के अतिरिक्त उनकी पत्नी है, और दो संतानें—एक तीन वर्ष का पुत्र और एक डेढ़ वर्ष की कन्या। सहपाठी होने के कारण घनश्यामदास और विश्वेश्वरनाथ में बड़ी मित्रता है। घनश्यामदास बहुधा शाम को विश्वेश्वरनाथ की कोठी पर जाया करते हैं।

एक दिन नियमानुसार संध्या-समय घनश्यामदास बैरिस्टर साहब की कोठी पर पहुँचे। उस वक्त विश्वेश्वरनाथ अपने मित्रों के साथ टेनिस खेल रहे थे। घनश्यामदास टेनिस-लॉन के किनारे पड़ी हुई एक कुर्सी पर बैठ गए, और खेल देखने लगे। एक घंटे के बाद खेल ख़तम हुआ, और विश्वेश्वरनाथ रैकेट हाथ में लिए हुए लॉन के बाहर आए। घनश्यामदास को बैठे देखकर बोल उठे—हलो घनश्याम, तुम कितनी देर से बैठे हो?

घनश्याम ने मुसकिराकर उत्तर दिया—केवल एक घंटे से।

विश्वेश्वरनाथ ने हँसकर कहा—केवल एक घंटा! तो अधिक समय नहीं हुआ। यह कहकर विश्वेश्वरनाथ भी पास ही एक कुर्सी पर बैठ गए। उनके अन्य तीन मित्र भी आकर कुर्सियों पर बैठ गए। कुछ देर के बाद अन्य तीन मित्र तो चले गए, केवल घनश्यामदास और बैरिस्टर साहब बैठे रहे।

बैरिस्टर साहब ने अँगड़ाई लेकर कहा—कहो यार, कैसी कटती है आजकल?

घनश्यामदास ने कहा—यहाँ तो "वही रफ़्तार बेढंगी, जो पहले थी, सो अब भी है।" न सावन हरे, न भादों सूखे। गिनी रोटी, और नापा शोरवा। आप अपनी कहिए?

विश्वेश्वर—यहाँ तो जनाब, बस, रात-दिन कमाने की फ़िक्र रहती है। इन दिनों आमदनी कुछ कम रही, इसलिये मज़ा ज़रा किरकिरा रहा।

घ०—इस महीने में एक हज़ार तो केवल एक ही केस में मिल गए, और आप क्या चाहते हैं?

विश्वेश्वर—एक हज़ार में यहाँ क्या होता है यार। जब तक महीने में ४-६ हज़ार न मिले, तब तक यहाँ पूरा नहीं पड़ता।

घनश्याम—४-६ हज़ार! आपका माहवार ख़र्च तो मेरी समझ में ज़्यादा-से-ज़्यादा एक हज़ार होगा।

विश्वेश्वर—अब आप यह समझ लीजिए, दो सौ रुपए माहवार तो सवारियों का ख़र्च है, एक मोटर और एक घोड़ा-गाड़ी; सवा सौ रुपए नौकरों की तनख़्वाह, पाँच मर्द हैं, और दो स्त्रियाँ। १००) माहवार चाय-सिगरेट में ख़र्च हो जाता है।

घनश्याम—चाय-सिगरेट में १००) रुपए माहवार!

विश्वेश्वर—क्यों, क्या बहुत है? आप इतने ही में घबरा गए। लंदन में धनी लोग दो-दो; तीन-तीन हज़ार रुपए माहवार तक सिर्फ़ चाय-सिगरेट में ख़र्च कर डालते हैं। आप तो १००) ही रुपए सुनकर घबरा गए!

घनश्याम—मेरी समझ में नहीं आता कि लोग कैसे तीन-तीन हज़ार रुपए चाय-सिगरेट में उड़ा देते हैं?

विश्वेश्वर—क्यों भई, वह आपकी कल्पना-शक्ति कहाँ गई? याद है, जब हम-तुम फ़ोर्थ ईयर (बी० ए० क्लास) में पढ़ते थे, तब तुमने कहा था कि कल्पना से मनुष्य सब कुछ जान सकता है।

घनश्याम—नहीं, मैंने यह तो नहीं कहा था कि सब कुछ जान सकता हूँ। हाँ, यह अवश्य कहा था कि कल्पना से कभी-कभी वे बातें भी जानी जा सकती हैं, जिनका मनुष्य को कभी अनुभव नहीं होता। यह बात तो कभी संभव नहीं कि कल्पना से मनुष्य प्रत्येक बात को जान ले।

विश्वेश्वर—ख़ैर, ग़नीमत है। आपने यह तो माना कि प्रत्येक बात कल्पना से नहीं जानी जा सकती।

घनश्याम—यार, यह तुम्हारी हठधर्मी है। मैंने यह कभी नहीं कहा था।

विश्वेश्वर—(हँसकर) ख़ैर, उस बात को जाने दो। हाँ, तो लंदन में धनी लोग ऐसे-ऐसे सिगार पीते हैं, जिनका मूल्य प्रति सिगार एक रुपया होता है। अब दिन-भर में १५-२० सिगार फुक जाना तो साधारण-सी बात है।

घनश्याम—दिन-भर में एक आदमी कितने सिगार पी सकता है?

विश्वेश्वर—वैसे पूरा सिगार पिए, तो एक आदमी दिन-भर में छः-सात से ज़्यादा नहीं पी सकता। परंतु धनी आदमी ऐसा नहीं करते। उन्होंने तो सिगार सुलगाया, दस-पाँच मिनट पिया, और फेंक दिया। इस प्रकार आधे से अधिक सिगार बिलकुल बेकार जाता है। यह समझ लीजिए कि एक रुपए का सिगार है, तो चार-छः आने का तो पी लिया, और बाक़ी दस-बारह आने का फेंक दिया। जो मितव्ययी होते हैं, वे उस सिगार को बुझाकर रख लेते हैं, फेंकते नहीं। इस तरह वह दूसरी-तीसरी बार भी काम दे जाता है। परंतु उदार धनी लोग ऐसा नहीं करते। सिगार बुझाकर रखना टुचापन समझते हैं। ऐसे ही दिन-भर में दस-बारह सिगार तो वे स्वयं ख़राब कर डालते हैं, और दस-बारह मित्रों के ख़ातिर-तवाज़े में जाते हैं। अगर आठ आने का भी एक सिगार

हुआ, तो दस-बारह रुपए रोज़ के सिगार समझो। औरतें सिगार नहीं, केवल सिगरेट पीती हैं। अतएव दिन-भर में दो-चार रुपए की सिगरेटें वे भी फूँक डालती हैं। अब चाय का ख़र्च लीजिए। बड़े आदमी कभी अकेले चाय नहीं पीते। जब पिएँगे, तो चार-छः आदमियों को साथ लेकर। दिन-भर में दस-बारह दफ़े चाय पीते हैं। इसमें भी चार-छः रुपए रोज़ का ख़र्च है, और महीने में आठ-दस बार 'टी-पार्टी' भी दी जाती है। एक-एक टी-पार्टी में बड़े आदमी चार-चार सौ, पाँच-पाँच सौ रुपए ख़र्च कर देते हैं!

घनश्याम—चाय में भला चार-पाँच सौ का क्या ख़र्च है? क्या पार्टी में सैकड़ों आदमी सम्मिलित होते हैं?

विश्वेश्वर—कभी नहीं, बीस-पचीस आदमी से ज़्यादा नहीं।

घनश्याम—तो फिर इतना ख़र्च कैसे हो जाता है?

विश्वेश्वर—नाम टी-पार्टी का होता है; पर उसमें फल-फलहरी, मिठाई भी होती है, शराब भी उड़ती है। इसी से इतना ख़र्च बढ़ जाता है।

घनश्याम—ये सब रुपए के चोंचले हैं। ख़ैर, लंदन की बात छोड़िए। आप अपनी कहिए, आप कितने की सिगरेट पी जाते हैं?

विश्वेश्वर—एक रुपए रोज़ की सिगरेटें तो मैं अकेले फूक देता हूँ, और एक रुपए रोज़ की मित्रों की ख़ातिर-तवाज़े में ख़र्च हो जाती हैं। यह उस दशा में, जब बड़ी किफ़ायतशारी से काम लेता हूँ।

घनश्याम—लंदन में रहे हो, उसका कुछ तो असर आना ही चाहिए।

विश्वेश्वर—बिलकुल यही बात है, सिगरेट और चाय का व्यसन तो वहीं का प्रसाद है।

घनश्याम—और शराब? शराब तो वहाँ ख़ूब पी जाती है?

विश्वेश्वर—ख़ूब से अगर आपका मतलब ज़्यादा से है, तो यह

आपका ख़याल ग़लत है। वहाँ बड़े आदमी शराब ज़्यादा नहीं पीते। फिर भी बड़े आदमियों को एक दिन मैंने ४०-५०) की शराब पी जाते देखा है, और यह रोज़ का ख़र्च है।

घनश्याम—जब ज़्यादा नहीं पीते, तो इतना ख़र्च क्यों पड़ता है?

विश्वेश्वर—ज़्यादा नहीं पीते, पर क़ीमती शराब पीते हैं—'शैंपियन', 'कागनेक', 'क्लेरेट', 'शेरी' इत्यादि ही पीते हैं। ये सब बड़ी क़ीमती होती हैं, दस-बारह रुपए बोतल से कम की कोई नहीं होती। एक बार में पीते बहुत थोड़ा हैं, दो पेग से ज़्यादा नहीं; पर दिन-भर में कई बार पीते हैं। जब प्यास लगती है, शराब ही पीते हैं। सादा पानी पीना तो वहाँ कोई जानता ही नहीं। ग़रीब लोग भी प्यास लगने पर शराब ही पीने की चेष्टा करते हैं, चाहे 'बियर' और 'जिन' ही पिएँ।

घनश्याम—हाँ, तो आप कितने की शराब पी जाते हैं?

विश्वेश्वर—मैं तो शाम को, खाना खाने के वक़्त, थोड़ी-सी पी लेता हूँ, बस।

घनश्याम—तो इसमें तो ज़्यादा ख़र्च न पड़ता होगा?

विश्वेश्वर—अगर मैं अकेला पिऊँ, तो एक बोतल चार दिन के लिये काफ़ी हो जाय, एक बोतल छः-सात रुपए की हुई। इस तरह ३० रुपए में महीना पार हो जाय। मगर यार-दोस्तों को भी कभी-कभी पिलानी पड़ती है, इसलिये महीने में आठ-दस बोतलें ख़र्च हो जाती हैं। ५०-६० रुपए इसमें भी ख़र्च हो जाते हैं।

घनश्याम—पाँच सौ रुपए मासिक के लगभग तो यही हो गया।

विश्वेश्वर—जी, और खाना, कपड़ा-लत्ता तथा और फुटकल ख़र्च। आम तौर से सब मिलाकर एक हज़ार माहवार से कुछ ज़्यादा ही बैठ जाता है। अगर किसी महीने मेहमान आ गए या कहीं रिश्तेदारी में ब्याह-शादी हुई, तो डेढ़-दो हज़ार तक की नौबत पहुँच जाती है।

घनश्याम—जिस आसानी से आता है, उसी आसानी से जाता भी है! "जैसी करनी, वैसी भरनी" बस, यही बात है।

विश्वेश्वर—यह बात नहीं। मैं कोई फ़िज़ूलख़र्ची तो करता नहीं। जितने ख़र्च मैंने आपको बताए हैं, उनमें भला फ़िज़ूल कौन-सा है?

घनश्याम—आमदनी है, इसलिये फ़िज़ूल नहीं मालूम होते। आमदनी न हो, तब फ़िज़ूल ख़र्च का पता चले। मुझे तो सिगरेट और शराब का ख़र्च बिलकुल फ़िज़ूल दिखलाई पड़ता है। आपके लिये वह आवश्यक है, और वह भी इसलिये कि आपको आमदनी है। ईश्वर न करे, कहीं आमदनी कम हो जाय, तो आपको भी ये ख़र्च फ़िज़ूल ही दिखलाई पड़ें। ख़ैर, अब यह बतलाओ कि कुछ बचाते भी हो, या सब चट ही कर जाते हो?

विश्वेश्वर—इधर डेढ़ साल से आमदनी बढ़ी है, नहीं इसके पहले तो हज़ार-आठ सौ रुपए माहवार से अधिक नहीं मिलता था। इस डेढ़ साल में कठिनाई से दस-बारह हज़ार रुपए बचाए हैं।

यह कहकर विश्वेश्वर उठ खड़े हुए, और बोले—चलो, अंदर बैठें।

(२)

वैरिस्टर साहब अर्थात् विश्वेश्वरनाथ करते तो थे डेढ़-दो हज़ार रुपए माहवार पैदा; पर तब भी उनकी धन-लिप्सा कम न हुई थी, बरन् प्रतिदिन बढ़ती ही जाती थी। यद्यपि उन्हें एक प्रकार से सब तरह का सुख था। नौकर-चाकर, सवारी, बँगला इत्यादि कोई वस्तु ऐसी न थी, जो उन्हें प्राप्त न हो; परंतु फिर भी वह सुखी न थे। सदैव यही चिंता रहती थी कि किसी प्रकार उनकी आमदनी बढ़े। घर में केवल चार जीव थे—एक वह स्वयं, दूसरी उनकी पत्नी; तीसरा उनका पुत्र, जिसकी उमर दो वर्ष के लगभग थी, और चौथे उनके वृद्ध पिता। केवल चार प्राणियों के लिये भी, बैरिस्टर साहब

की दृष्टि में, दो सहस्र रुपए मासिक कम थे! नगर में अन्य वैरिस्टर भी थे। उनमें कुछ ऐसे थे, जिनकी आय पाँच-छः सहस्र रुपए मासिक तक थी। इसका कारण यह था कि वे पुराने थे, उनकी धाक खूब जमी हुई थी। वैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ भी रात-दिन इसी चिंता में रहते थे कि किसी प्रकार उनकी भी आमदनी पाँच-छः सहस्र या इससे भी अधिक हो जाय।

रात का समय था। पति-पत्नी एक बिजली की रोशनी से जग-मगाते हुए कमरे में सुंदर तथा कोमल शय्या पर लेटे हुए बातें कर रहे थे। वैरिस्टर साहब बोल उठे—क्या कहें, परसों एक ऐसा अच्छा बाग़ बिक गया, साठ हज़ार में बिका!

पत्नी ने पूछा—किसका था?

वैरि०—एक सेठ का था। बड़ा सुंदर बाग़ है, बीच में एक छोटी-सी कोठी भी है।

पत्नी—किसने लिया?

वैरि०—टॉमसन साहब वैरिस्टर ने। सच पूछो, तो साठ हज़ार में भी सस्ता मिला। एक लाख से कम का नहीं है। (ठंडी साँस लेकर) रुपया नहीं था, नहीं तो × × ×

पत्नी—रुपया हो कैसे? जो कुछ आता है, सब ख़र्च हो जाता है। किसी महीने में दो सौ बच गए, किसी में चार सौ। किसी महीने में तो एक पैसा भी नहीं बचता!

वैरि०—यही तो मुशकिल है। इतना हाथ रोककर ख़र्च करते हैं, फिर भी कुछ नहीं बचता। ख़र्च सब बँधे टँके हैं, कोई फ़िज़ूल ख़र्च नहीं होता। एक बढ़िया कार (मोटर) लेने का इरादा न जाने कितने दिनों से है; पर इसी मारे नहीं लेते कि मुफ़्त में छः-सात हज़ार निकल जायँगे।

पत्नी—यह गाड़ी क्या कुछ ख़राब है? अभी बिलकुल नई तो है।

वैरि०—नई-पुरानी पर बात नहीं है। वह गाड़ी ओवरलैंड है। ओवरलैंड गाड़ी भी कोई गाड़ी में गाड़ी है। आजकल साधारण आदमियों के पास भी ओवर-लैंड रहती है। गाड़ियाँ हैं हडसन, डॉज। हडसन-गाड़ी सात-आठ हज़ार से कम में नहीं आती। इस समय यहाँ कोई ऐसा वैरिस्टर नहीं, जो ओवर-लैंड पर चलता हो। मैं जब उस पर निकलता हूँ, तो शर्म मालूम होती है।

पत्नी—इस डांज-फ़ाज के फेर में तो पड़ो नहीं। सबसे पहले एक कोठी ख़रीदनी चाहिए, किराए के बँगले में रहते अच्छा नहीं लगता। वह भी कोई आदमी है, जिसका घर का घर न हो। अपनी निज की झोंपड़ी अच्छी; पर किराए का महल भी अच्छा नहीं।

वैरि०—अच्छी कोठी ७०-८० हज़ार से कम की नहीं मिलेगी, और पल्ले इस वक्त २० ही हज़ार हैं। बतलाओ, इतने में क्या-क्या करें। वही कहावत है—"एक टका मेरी आली; नथ गढ़ाऊँ कि बाली।" कुल बीस हज़ार रुपल्ली, उसमें मोटर भी हो, कोठी भी हो, बाग़ भी हो।

पत्नी—इस हिसाब से तो अभी ५०-६० हज़ार की कमी है।

वैरि०—अरे सब कमी-ही-कमी तो है। अभी है ही क्या? अगर पाँच-छः हज़ार माहवार मिलने लगें, तब तो मज़ा आ जाय। कम-से-कम चार हज़ार माहवार बचें, एक ही साल में ५० हज़ार बच जायँ। बड़े-बड़े मुक़दमे तो—जिनमें तीन-तीन, चार-चार सौ फ़ी पेशी मिहनताना होता है—जो हमसे पुराने हैं, वे मार ले जाते हैं। हमें तो बस, यही पचास से लेकर सौ-डेढ़ सौ, हद दो सौ, तक के मुक़दमे मिलते हैं।

पत्नी—वे तुमसे अच्छा काम करते होंगे, तभी तो उनको इतना मिलता है?

बैरि०—अच्छे-बुरे की बात नहीं, बात केवल धाक की है। उन की धाक जमी हुई है, इस कारण लोग पहले उन्हीं को पूछते हैं। हम चाहे उनसे अधिक परिश्रम करें; पर हमें कोई नहीं पतियाता। नाम निकल जाने की बात है। उनका नाम हो गया है, इसलिये लोग उन्हीं की तरफ़ दौड़ते हैं।

पत्नी—तुम जब पुराने हो जाओगे, तब तुम्हें भी उतना मिलने लगेगा।

बैरि०—तब तो मिलेगा ही। परंतु बुढ़ापे में धन आया, तो किस काम का। खाने-खर्च के दिन तो यही हैं। अभी मिलता, तो आनंद था।

इसी प्रकार बैरिस्टर साहब रात के बारह बजे तक झींकते रहे। जब घड़ी ने टनाटन बारह बजाए, तब वह चौंककर बोले—ओफ़ ओह! बारह बज गए। अब सोना चाहिए। यह दुखड़ा तो नित्य का है।

(२)

इधर बैरिस्टर साहब दो सहस्र मासिक की आय होने पर भी रात-दिन 'हाय रुपया, हाय रुपया' ही चिल्लाते रहते थे। कोई दिन ऐसा न जाता, जिस दिन वह निश्चिंत होकर सुख-शांति के साथ भोजन करते हों। उठते-बैठते, खाते-पीते, हमेशा यही चिंता कि रुपए हों, तो यह कोठी ख़रीदें, वह बाग़ ले लें, इस तरह की गाड़ी मँगावें। अच्छे-से-अच्छा खाते-पहनते थे; पर सुख-शांति का अभाव था। हाय री राक्षसी तृष्णा! बाहर से तो जो बैरिस्टर साहब को देखता था, वह समझता था कि वह बड़े सुखी हैं, ईश्वर का दिया सब कुछ है। परंतु बैरिस्टर साहब की नीयत का हाल किसी को क्या मालूम? उनकी नीयत का हाल यह था कि जहाँ किसी को बढ़िया गाड़ी पर निकलते देखते, वहीं ठंडी साँसें भरकर आह मारते। जब

किसी की बढ़िया कोठी पर दृष्टि पड़ती, कलेजे पर साँप लोट जाता कि हाय, यह कोठी हमारे पास क्यों न हुई ! रुपए हों, तो हम भी ऐसी ही कोठी बनवावें। जहाँ तक मानसिक चिंता, मानसिक क्लेश और धन-लोलुपता का संबंध है, वहाँ तक बैरिस्टर साहब और एक ऐसे दरिद्र में, जिसे केवल भोजन और वस्त्र की सदा चिंता रहती है, कोई अंतर न था। एक दरिद्र आदमी दिन-भर इसी चिंता में अपना ख़ून सुखाया करता है कि शाम तक उसको और उसके बाल-बच्चों को पेट-भर भोजन मिल जाय, तन ढकने को वस्त्र मिल जाय। रात में भी उस बेचारे को इसी चिंता के मारे नींद नहीं आती। बैरिस्टर साहब भी दिन-भर उसी चिंता में रक्त सुखाया करते कि किसी प्रकार ख़ूब रुपए मिलें, कोठी ख़रीदें, बाग़ लें, बढ़िया-बढ़िया गाड़ियाँ रक्खें, ख़ूब ठाट-बाट बनावें। रात में भी बेचारे को इसी चिंता के मारे नींद हराम हो गई थी। दो हज़ार माहवार कमानेवाले इन बैरिस्टर साहब में और एक दरिद्र में कोई अंतर नहीं ? जितनी चिंता उसे रहती है, उससे कम इन्हें नहीं। जितना मानसिक क्लेश उसे रहता है, उतना ही इन्हें भी। खाते-पीते लोगों के सामने वह दरिद्र जितनी अपनी लघुता अनुभव करता है, उतनी ही बैरिस्टर साहब उन लोगों के सामने महसूस करते हैं, जिनके पास उनसे अधिक धन है, उनसे अधिक बढ़िया बाग़, कोठी तथा अन्य सामान हैं। जो वस्तु मनुष्य को प्राप्त हो जाती है, उसका मूल्य, उसका महत्त्व, उसकी दृष्टि में, कुछ नहीं रहता; फिर वह चाहे जितनी मूल्यवान् क्यों न हो चाहे जितनी दुष्प्राप्य। मनुष्य सदैव उसी वस्तु की अभिलाषा में ठंडी साँसें भरता है जो उसे प्राप्त नहीं, जो उसे नसीब नहीं, वह चाहे जितनी साधारण हो, चाहे जितनी मामूली हो। एक लखपती मनुष्य के लिये हज़ार-दो हज़ार रुपए कोई चीज़ नहीं। क्यों ? इसलिये कि रुपए उसके पास हैं, उसे प्राप्त हैं। परंतु जिसके पास सौ रुपए भी

नहीं, उसके लिये दो हज़ार न्यामत हैं, क्योंकि उसके लिये दुष्प्राप्य हैं। संसार का यही नियम है, यही चलन है। एक राजा और एक भिखारी के हृदय में उस समय तक कोई अंतर नहीं, जब तक कि दोनों में तृष्णा, आकांक्षा तथा अभिलाषा भरी हुई है। बाहर से देखने में यदि एक शाल-दुशाले लपेटे हुए है, और दूसरा टाट और गूदड़, तो इससे क्या होता है। आग का काम जलाने का है। उसे मख़मल में लपेटो, तो उसे भी जला देगी और टाट में लपेटो, तो उसे भी न छोड़ेगी।

एक दिन घनश्यामदास ने बैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ की अपने यहाँ दावत की। घनश्यामदास स्वयं नियत समय पर बैरिस्टर साहब के यहाँ पहुँचे, और बोले—चलिए।

विश्वेश्वरनाथ ने मुसकिराकर कहा—यह तो बतलाओ, क्या-क्या खिलाओगे?

घनश्याम—जो दाल-दलिया ग़रीब के यहाँ है, वही खिलाऊँगा।

विश्वेश्वर—कुछ उसका भी शौक़ है?

घनश्याम—बिलकुल नहीं; न बंदा ख़ुद पिए, न किसी को पिलावे।

विश्वेश्वर—यह तो घाटे की बात है यार। बिना सुरूर गठे तो यार लोगों से लुक़्मा न उठाया जायगा।

घनश्याम—यदि यह बात है, तो आप यहीं से पीते चलिए। वहाँ पहुँचते ही तुरंत खाना मिल जायगा।

विश्वेश्वर—ख़ैर, यों ही सही; पर इस वक़्त जितनी पिऊँगा, उसका बिल तुम्हारे पास भेजूँगा।

यह कहकर विश्वेश्वरनाथ मुसकिराते हुए अंदर चले गए। आध घंटे के बाद निकले। इस वक़्त वह ठेठ हिंदू बने हुए थे। धोती, कोट, फ़ेल्ट टोपी इत्यादि से सुसज्जित थे। दोनो व्यक्ति मोटर में बैठकर घनश्यामदास के यहाँ पहुँचे।

घनश्यामदास का मकान साधारण था, गुज़र के लिये काफ़ी था। बाहर एक छोटी-सी बैठक में सफ़ेद फ़र्श बिछा हुआ था, जिस पर एक गाव-तकिया भी रक्खा था। विश्वेश्वरनाथ गाव-तकिए के सहारे बैठ गए; फिर वह मकान की ओर देखकर मन में सोचने लगे—ये लोग इतने छोटे मकानों में कैसे रहते हैं; हमसे तो यहाँ एक दिन भी न रहा जाय !

घनश्यामदास ने पूछा—आप मकान को बड़े ग़ौर से देख रहे हैं?

विश्वेश्वर—मकान है तो साफ़-सुथरा; लेकिन कुछ छोटा है। जिस मकान में तुम पहले रहते थे, उससे तो अच्छा ही है।

घनश्याम—जैसा कुछ भी है, हमारे लिये काफ़ी है।

यह कहकर घनश्यामदास अंदर चले गए, और थोड़ी देर के बाद लौटकर बोले—चलिए, खाना खा लीजिए।

विश्वेश्वरनाथ ने अंदर जाकर भोजन किया। तत्पश्चात् पुनः बाहर कमरे में आ गए। घनश्याम ने पान-इलायची तथा सिगरेट सामने रख दिया। विश्वेश्वरनाथ ने पान तो खाए नहीं, केवल इलायची ले ली, और सिगरेट पीने लगे।

विश्वेश्वरनाथ ने पूछा—कहो, आजकल कैसी कटती है?

घनश्याम—बड़े आनंद में। डेढ़ सौ महीना मिलता है। आनंद से खाते-पीते हैं। न ऊधौ का लेना, न माधो का देना।

विश्वेश्वर—पता नहीं, तुम इतने ही में कैसे संतुष्ट रहते हो। यहाँ तो दो हज़ार माहवार पैदा करते हैं, फिर भी फ़िक्रों के मारे रात को नींद नहीं आती।

घनश्यामदास हँसकर बोले—आपके हृदय में महत्वाकांक्षाएँ भरी पड़ी हैं, और यहाँ उनसे कोसों भागते हैं।

विश्वेश्वर—हिंदोस्तानियों में यही तो दोष है कि ये लोग बहुत

जिससे शरीर का ख़ून सूखे, दो कौड़ी की है। ऐसी महत्त्वाकांक्षा तो ईश्वर की मार है, अभिशाप ही है!

विश्वेश्वर—तुम तो उन आदमियों में हो, जो रोटी-कपड़ा मिलने ही को सुख समझते हैं!

घनश्याम—न समझें, तो करें क्या, प्राण दे दें? जब हमें मालूम है कि हम इस जन्म में, लाख चेष्टा करने पर भी, संपत्तिशाली नहीं हो सकते, तो व्यर्थ चिंता और कष्ट उठाने से लाभ?

विश्वेश्वर—उद्योग और प्रयत्न करने से सब कुछ हो सकता है। चेष्टा करने से ईश्वर तक प्राप्त हो सकता है।

घनश्याम—क्षमा कीजिए, उसका नाम उद्योग और प्रयत्न नहीं है उसका नाम तपस्या है। तपस्या और प्रयत्न तथा उद्योग में आकाश-पाताल का अंतर है। तपस्या बात ही दूसरी है। तपस्या में तो मनुष्य को घोर कष्ट भी सहन करने पड़ते हैं। मोटरों में चढ़े घूमने से, सुस्वादु भोजन पाने से, बढ़िया सिगरेट पीने से, रोज़ शाम को शराब उड़ाने से तपस्या नहीं होती। तपस्या में मनुष्य को संसार का, अपने बंधु-बांधवों का, अपने शरीर तक का मोह त्याग देना पड़ता है।

विश्वेश्वरनाथ इसका कुछ उत्तर न देकर बोले—अच्छा अब आज्ञा दो, चलूँगा।

यह कहकर वह बिदा हुए।

(२)

बैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ की धन-लोलुपता प्रतिदिन बढ़ती ही गई। उनकी महत्त्वाकाँक्षाएँ बहुत बड़ी-बड़ी थीं और उनको प्रत्यक्ष देखने के लिये वह सब कुछ करने पर उद्यत रहते थे। शाम का वक़्त था। विश्वेश्वरनाथ अपनी कोठी के बरामदे में, आरामकुर्सी पर लेटे हुए अख़बार पढ़ रहे थे, उसी समय उनकी कोठी के फाटक पर एक

मोटर आकर रुकी। उसमें से एक सज्जन बिलकुल अँगरेज़ी लिबास में उतरे, और सीधे बैरिस्टर साहब के पास चले आए। बैरिस्टर उन्हें देखते ही उठ खड़े हुए, हाथ मिलाया, और पास की कुर्सी पर बैठने के लिये कहा। वह सज्जन बैठ गए। बैरिस्टर साहब ने पूछा—आपका नाम ?

वह सज्जन बोले—मेरा नाम अजीतसिंह है, और मैं...रियासत का दीवान हूँ। मैं एक मुक़दमे के मुतअल्लिक़ आपके पास आया हूँ।

'रियासत के दीवान ! और उनका मुक़दमा !!' सुनते बैरिस्टर साहब की बाछें खिल गईं। मन की प्रसन्नता को भीतर-ही-भीतर दबाने की कोशिश करते हुए बोले—बड़ी ख़ुशी की बात है। मैं आपकी सेवा के लिये हाज़िर हूँ।

वह सज्जन—एक लाख का दस्तावेज़ है। उसकी नालिश करना है।

बैरिस्टर साहब—वह दस्तावेज़ आप लाए हैं ?

वह सज्जन—जी हाँ, मगर उसमें एक नुक़्स है। उसके संबंध में आपसे सलाह लेनी है।

यह कहकर उन्होंने जेब से वह दस्तावेज़ निकालकर बैरिस्टर साहब के हाथ में दे दिया।

बैरिस्टर साहब ने दस्तावेज़ को ध्यान-पूर्वक देखा; बाद को बोले-इसको लिखे गए तीन साल हो गए !

वह सज्जन—जी हाँ।

बैरिस्टर०—हाँ, इसमें नुक़्स क्या है ?

वह सज्जन—यह रजिस्ट्री-शुदा नहीं है।

बैरिस्टर साहब ने उसे उलटकर देखा और देखकर बोले—यह तो बड़ा भारी नुक़्स है। इतनी भारी रक़म का दस्तावेज़ और उसकी रजिस्ट्री नहीं कराई गई !

वह सज्जन—क्या कहें, कुछ ऐसे झमेले आ गए कि रजिस्ट्री नहीं हो सकी, वक्त निकल गया। दूसरे, कुछ विश्वास भी था, इसलिये अधिक ध्यान नहीं दिया।

वैरिस्टर०—विश्वास था, तो फिर नालिश की नौबत कैसे आई?

वह सज्जन—समय की बात तो है। आजकल जिस पर विश्वास करो, वही विश्वासघात करता है।

वैरिस्टर०—इस दस्तावेज़ पर जिन गवाहों के दस्तख़त हैं, वे तो सब आपकी जानिब से गवाही देंगे न?

वह सज्जन—यही तो ख़राबी है। जिन दो गवाहों के दस्तख़त हैं, वे दोनों ही इन तीन सालों के अंदर मर चुके हैं।

वैरिस्टर०—यह तो बड़ी बुरी बात हुई। एक तो रजिस्ट्री नहीं हुई, दूसरे गवाह नदारद! बड़ी कठिन समस्या है।

वह सज्जन—जब आप-ऐसे वैरिस्टर भी इसे कठिन समस्या कहेंगे, तो फिर इसे सुलझावेगा कौन?"

वैरिस्टर०—कम-से-कम एक ऐसे गवाह की ज़रूरत है, जो प्रतिष्ठित हो, जीवित भी हो।

वह सज्जन—परंतु दस्ख़त तो दो ही के हैं, और उनमें से दोनों नहीं हैं। क्या ज़बानी गवाही काम दे सकती है?

वैरिस्टर०—ज़बानी गवाही तो काम नहीं दे सकती।

वह सज्जन—यदि आप इस दस्तावेज़ का रुपया वसूल कर दें, तो पचास हज़ार रुपए आपकी भेंट करूँगा।

पचास हज़ार रुपए सुनते ही वैरिस्टर साहब के मुँह में पानी भर आया। सोचा, कुछ और लेना चाहिए। ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा। कम-से-कम एक कोठी ख़रीदने-भर को तो ले लो। फिर देखा जायगा। यह सोचकर बोले—काम टेढ़ा है। इसका मिहनताना मैं ८० हज़ार से कम न लूँगा।

वह सज्जन—अस्सी हज़ार तो बहुत हैं!

बैरिस्टर०—काम को देखिए! आपके चार लाख पर पानी फिर जाता है!

वह सज्जन—हाँ, यह बात तो ज़रूर है। अच्छा, स्वीकार है। "जाता धन जो देखिए, तो आधा लीजै बाँट।" ऐसा ही सही।

बैरिस्टर०—तो आधा मिहनताना तो पहले रखिए, और इसको कोर्ट-फ़ीस।

वह सज्जन—कोर्ट-फ़ीस तो दी ही जायगी; परंतु मिहनताना आधा-आधा पहले नहीं। रुपए पाँच हज़ार आप अभी ले लीजिए। मुक़दमा जीत जाने पर बाक़ी सब दे दिया जायगा।

"पाँच हज़ार तो बहुत कम है।"

वह सज्जन—तो इससे अधिक की तो गुंजाइश नहीं है। आपको यदि यह ख़याल हो कि हम बेईमानी कर जायँगे, तो हुंडी-रुक़्क़ा, दस्तावेज़, चाहे जो लिखा लीजिए।

बैरिस्टर०—ख़ैर, यह बात तो नहीं है। मुझे आप पर पूरा विश्वास है। मगर—

वह सज्जन—अगर-मगर का अब क्या काम? जब आपको विश्वास है, तो फिर आगे कुछ कहना व्यर्थ है।

उस व्यक्ति ने ऐसी लच्छेदार बातें बनाईं कि बैरिस्टर साहब स्वयं क़ानूनदाँ होकर भी उसकी बातों में आ गए, और मुक़दमे को ले लिया।

उसने पूछा—हाँ, यह बात तो बतलाइए कि आप इस केस को कैसे चलावेंगे?

बैरिस्टर साहब—इस दस्तावेज़ में एक गवाह का स्थान छूटा हुआ है।

वह सज्जन—हाँ, छूटा तो है।

वैरिस्टर०—बस, उस स्थान पर एक गवाही बनवा ली जायगी।

वह सज्जन—बात तो बड़ी आला दर्जे की है; परंतु झूठी गवाही बनाने के लिये तैयार कौन होगा? ऐसे-वैसे की गवाही मानी नहीं जायगी, और प्रतिष्ठित आदमी झूठी गवाही क्यों देने लगा?

वैरिस्टर०—आप देखते तो जाइए। इसी बात के तो अस्सी हज़ार लूँगा, ख़ाली नालिश करने के थोड़े ही।

वह सज्जन—ख़ैर, आप जानें, आपका काम जाने? हमें तो रुपए मिलने चाहिएँ।

वैरिस्टर०—ख़ैर, आप अब जाइए, और कल या परसों पाँच हज़ार मेरी फ़ीस के, और इसकी कोर्ट-फ़ीस ले आइए। नालिश दायर कर दी जायगी।

वह सज्जन—कोर्ट-फ़ीस कितनी लगेगी?

वैरिस्टर साहब ने हिसाब लगाकर बतला दिया। वह सज्जन दो रोज़ बाद आने का वायदा करके चले गए।

दो रोज़ बाद वह रुपए लेकर आए, और बोले—लीजिए, ये पाँच हज़ार तो आपके हैं, और ये कोर्ट-फ़ीस के। गिन लीजिए, सौ-सौ के नोट हैं।

वैरिस्टर साहब ने रुपए गिनकर रख लिए।

उन सज्जन ने पूछा—हाँ, तीसरे गवाह की बाबत आपने क्या किया?

बैरिस्टर साहब उन्हें एक निर्जन कमरे में ले गए, और दस्तावेज़ दिखलाकर बोले—देखिए, मैंने क्या कमाल किया है! उन सज्जन ने देखा, दस्तावेज़ पर तीसरे गवाह के स्थान पर स्वयं बैरिस्टर साहब ही के हस्ताक्षर। स्याही भी वैसी ही थी, जैसी कि दस्तावेज़ की।

उन सज्जन ने विस्मित होकर पूछा—आपने स्वयं अपने ही को गवाह बना दिया?

बैरिस्टर०—और फिर किसको बनाता ? कौन भला आदमी झूठी गवाही बनाना पसंद करेगा ?

वह सज्जन प्रसन्न-मुख होकर बोले—तब तो निश्चय रुपए वसूल हो जायँगे।

बैरिस्टर०—अस्सी हज़ार तैयार रखिएगा।

वह सज्जन—अजी उसी वक्त लीजिए। इधर डिग्री मिली, उधर आप रुपए ले लें। ऐसी बात थोड़ी ही है।

* * *

ठीक समय पर दस्तावेज़ का मुक़दमा पेश हुआ। जिस पर नालिश हुई थी, वह ताल्लुक़ेदार थे। उनकी ओर से भी दो बैरिस्टर थे। ताल्लुक़ेदार ने दस्तावेज़ को तसलीम नहीं किया, और कहा—"यह दस्तावेज़ जाली है।" इधर गवाहों में स्वयं बैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ के हस्ताक्षर विद्यमान थे। ऐसी हालत में दस्तावेज़ का जाली होना सरलता-पूर्वक मान्य नहीं हो सकता था। ताल्लुक़ेदार साहब ने अपने हस्ताक्षरों के संबंध में भी कहा कि ये जाली हैं।

अब विश्वेश्वरनाथ के होश गुम हो गए। उन्हें यह विश्वास नहीं था कि पूरा दस्तावेज़ ही जाली होगा। उन्होंने समझा था कि दस्तावेज़ सही है, केवल एक प्रतिष्ठित गवाह के हस्ताक्षर की आवश्यकता है, और वह भी केवल इसलिये कि जिन दो गवाहों के हस्ताक्षर उस पर थे, वे मृत हो चुके थे। लोभ ने उनकी आँखों पर पट्टी बाँध दी थी, और उन्होंने उस दस्तावेज़ के असली होने के संबंध में यथेष्ट जाँच-पड़ताल नहीं की थी। यदि दस्तावेज़ जाली प्रमाणित हो गया, तो वह भी बाँधे जायँगे; क्योंकि उनकी गवाही उस पर थी। अतएव इसके यह अर्थ हुए कि वह भी उस जाल में सम्मिलित हैं।

वह दस्तावेज़ हस्ताक्षर के विशेषज्ञ के पास भेजा गया। पंद्रह

दिन के बाद उसने अपनी रिपोर्ट इस प्रकार दी—"दस्तावेज़ निःसंदेह जाली मालूम होता है। मुद्दाअलेह के असली हस्ताक्षर में और दस्तावेज़ पर किए गए हस्ताक्षरों में फ़र्क़ है। यद्यपि यह फ़र्क़ बहुत बारीक है; फिर भी एक विशेषज्ञ को भ्रम में नहीं डाल सकता। इसके अतिरिक्त बैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ की गवाही अभी हाल ही में की हुई मालूम होती है; क्योंकि जिस स्याही में बैरिस्टर साहब के हस्ताक्षर हैं, वह रंग में तो दस्तावेज़ की स्याही से मिलती है, पर उतनी पुरानी नहीं है, जितनी कि दस्तावेज़ की। रासायनिक क्रिया करने से उसका नयापन स्पष्ट प्रकट हो गया।"

यह रिपोर्ट मिलते ही अदालत ने मुद्दई का दावा ख़ारिज कर दिया, और विश्वेश्वरनाथ तथा मुद्दई, दोनों को फ़ौजदारी-सिपुर्द कर दिया।

❀ ❀ ❀

कहाँ तो बैरिस्टर साहब इस फेर में थे कि अस्सी हज़ार मिलते ही कोई बढ़िया कोठी ख़रीदेंगे और कहाँ अब प्राण बचाना कठिन हो गया। उलटी आँतें गले पड़ीं। सोचा, जेलख़ाने अलग जायँगे और बैरिस्टरी का डिप्लोमा अलग छिन जायगा। कौड़ी के तीन-तीन हो जायँगे। परंतु वह स्वयं बैरिस्टर थे, इसलिये बड़े-बड़े बैरिस्टरों पर उनका प्रभाव था। सबने यह निश्चय कर लिया कि विश्वेश्वरनाथ को बचाना ही चाहिए।

विश्वेश्वरनाथ और दीवानजी, दोनों पर मुक़दमा चला। अंत को विश्वेश्वरनाथ तो बच गए; परंतु दीवानजी को सज़ा हो गई। स्याही के नए-पुराने होने की बात को बैरिस्टरों ने बिलकुल उड़ा ही दिया। रही केवल जाली दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर करने की बात; सो उसके लिये बैरिस्टरों ने यह कहा कि दीवानजी और बैरिस्टर साहब में मित्रता थी, इसलिये बैरिस्टर साहब ने हस्ताक्षर कर दिए थे, यह सोचकर कि रजिस्ट्री होते समय इस बात की जाँच कर लेंगे कि

वास्तव में क़र्ज़ दिया गया है या नहीं। उनकी नीयत में कोई फ़र्क़ न था और न वह यही जानते थे कि यह सरासर जाल किया जा रहा है। ख़ैरियत यह हुई कि दीवानजी को यद्यपि सज़ा हो गई, तथापि उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि उन्होंने जाली दस्तावेज़ बनाया है, वह अंत तक यही कहते रहे कि दस्तावेज़ सही है। यह पट्टी भी दीवानजी को बैरिस्टरों ने पढ़ाई थी कि यदि तुम ऐसा कहते रहोगे, तो छूट जाओगे। परंतु इससे उनका असली मतलब विश्वेश्वरनाथ को बचाना था; क्योंकि यदि दीवानजी अपना अपराध स्वीकार कर लेते, तो वह यह भी कह देते कि बैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ ने भी जाली हस्ताक्षर बनाए हैं और अभी हाल ही में। ऐसी हालत में विश्वेश्वरनाथ का छूटना असंभव हो जाता। दीवानजी इतने उदार या इतने उल्लू न थे कि अपना अपराध स्वीकार करके स्वयं तो जेलख़ाने चले जाते और विश्वेश्वरनाथ को बचा देते। परंतु इसकी नौबत नहीं आई। बैरिस्टरों ने दीवानजी को धोके में रक्खा और दीवानजी अंत तक यही कहते रहे कि वह निर्दोष हैं।

❀ ❀ ❀

विश्वेश्वरनाथ के बरी होने के दूसरे ही दिन घनश्यामदास उनसे मिले। घनश्यामदास ने पूछा—अरे, यह तुम क्या कर बैठे थे?

विश्वेश्वरनाथ बोले—भई कुछ न पूछो, इस रुपए-रूपी राक्षस ने आँखों पर पट्टी बाँध दी थी।

घनश्याम—तो कुछ हाथ भी लगा?

विश्वेश्वरनाथ—अरे यार, आबरू बच गई, यही ग़नीमत समझो; मिला कुछ नहीं। पाँच हज़ार मिले थे, वह ख़र्च हो गए। और कुछ अपनी गाँठ से दे बैठा।

घनश्याम—मुझे आश्चर्य है कि दो हज़ार मासिक की आमदनी होने पर भी तुम्हें संतोष न हुआ!

विश्वेश्वरनाथ—क्या कहूँ, अब तोबा करता हूँ कि धन के लोभ में कभी न फँसूँगा। ईश्वर आराम से रोटी-कपड़ा दिए जाय, यही हज़ार न्यामत है।

घनश्याम—ख़ैर, आज आपने यह तो जाना कि आराम से रोटी-कपड़ा मिलना भी एक न्यामत है।

विश्वेश्वरनाथ—है, और अवश्य है। संसार में यह बात बड़े भाग्यवान् ही को नसीब होती है।

कर्तव्य-पालन

(१)

सबेरे सात बजे का समय था। गंगा-तट पर स्नानार्थियों की खूब भीड़ थी। उसी समय एक व्यक्ति गंगाजली हाथ में लिए और बग़ल में पूजन का सामान दबाए घाट पर आया। इस व्यक्ति की आयु ३० वर्ष के लगभग होगी। शरीर सुडौल तथा सुदृढ़ था। वर्ण स्वच्छ गौर था। इस व्यक्ति को देखते ही तख़्त पर बैठे हुए एक गंगापुत्र ने कहा—सदा जय रहै, भागीरथी सदा चोला प्रसन्न रक्खैं; आओ भैया, आज तो बड़ी देर कर दी।

वह व्यक्ति बोला—हाँ, कल रात को ज़रा थिएटर देखने चला गया था, इसी से देर हो गई। तुम जानो, जो आदमी दो-ढाई बजे सोवेगा, वह पाँच बजे कैसे उठ सकता है ?

गंगापुत्र दाँत निकालकर बोला—हाँ सरकार, यह बात तो वाजिबी है।

उस व्यक्ति ने गंगाजली तथा पूजा की पोटली तख़्त पर रख दी, और स्वयं भी उसी पर बैठते हुए बोला—ज़रा सुस्ता लूँ, तो स्नान करूँ। रात का जागना भी बड़ा बुरा होता है। अब इस समय यही जी चाहता है कि पड़के सो जाऊँ।

गंगापुत्र—बिना पाँच-छः घंटे सोए नींद पूरी नहीं होती।

वह व्यक्ति—हाँ, इस समय जी न-जाने कैसा हो रहा है।

गंगापुत्र—हुक्म हो, तो ठंडाई बनाऊँ। ठंडाई से गरमी शांत हो जायगी।

वह व्यक्ति—अब रहने दो, काहे को दिक़ होगे।

गंगापुत्र—इसमें दिक़ होने की कौन बात है मालिक, अभी सब लैस हुआ जाता है। चुटकी बजाते बनती है। आपका हुक्म-भर होना चाहिए।

वह व्यक्ति—तुम्हें कोई अड़चन न हो, तो बना लो।

गंगापुत्र—वाह सरकार, आपके काम के लिये कभी अड़चन हो सकती है? यह तो ज़रा-सी बात है, काम पड़े, तो तुम्हारे लिये प्राण तक हाज़िर हैं।

इतना कहकर गंगापुत्र ने पुकारा—मुनुआ, मुनुआ रे! एक ओर से आवाज़ आई—आए!

कुछ सेकिंडों में एक दस वर्ष का बालक दौड़ता हुआ आया, और गंगापुत्र से बोला—काहे बप्पा, का है?

गंगापुत्र—है का, यहाँ काम कर बैठके, इधर-उधर मारा-माराघूमताहै।

वह व्यक्ति—इसे कुछ पढ़ाते-लिखाते नहीं?

गंगापुत्र—अरे सरकार, यह साला न पढ़े न लिखे, दिन-भर खेला करता है। जो कहो कि अच्छा भाई, न पढ़-लिख, न सही; घाट ही पर बैठ, सो भी नहीं करता। ससुरे ने नाकों दम कर रक्खा है।

वह व्यक्ति—अभी बच्चा है, धीरे-धीरे घाट पर बैठने लगेगा। थोड़ा पढ़ लेता, तो अच्छा था।

गंगापुत्र—जो साले के करम में बदा होगा, सो होगा। हमारी तो आप लोगों के चरणों में पार हो आई है, अब आगे यह जाने, इसका काम जाने।

गंगापुत्र ने एक खारुए की बड़ी थैली उठाई। उससे भाँग-इलायची, मिर्च-बादाम इत्यादि मसाला निकालकर लड़के को दिया, और कहा—जाओ, भाँग धो लाओ। बादाम पहले भिगो देना, जब तक भाँग धुलेगी, तब तक फूल जायँगे। जा, झटपट आना, नहीं तो डंडे पड़ेंगे।

लड़का सब चीज़ें लेकर चला गया।

वह व्यक्ति थोड़ी देर तक चुपचाप बैठा रहा। फिर बोला—आज-कल हिंदू-मुसलमानों में बड़ी तनातनी हो रही है।

गंगापुत्र—हाँ सरकार, मियाँ भाई बैठे-बिठाए छेड़खानी करते हैं, यह अच्छी बात नहीं। हिंदू-जाति बड़ी गऊ-जाति है। ऐसी ग़मख़ोर जाति दूसरी नहीं है। हम लोग हैं, अपनी गंगा-माता की सेवा करते हैं। ठंडाई-बूटी छानी, मस्त पड़े हैं। आप लोगों की जय मना रहे हैं। न ऊधो का लेना, न माधो का देना। अब हम लोगों को छेड़ते हैं। सो हम भी जब तक ग़म खाते हैं, तभी तक। जिस दिन क्रोध आ गया, मियाँ लोग टका धरेंगे, पैसा उठावेंगे।

वह व्यक्ति—हिंदू-मुसलमानों का आपस में लड़ना बड़ा बुरा है। यह ऐसी लड़ाई है कि इसमें जीते भी हार, और हारे तो हार हई है। क्या कहें, न-जाने हमारे देश पर किस पाप-ग्रह की कुदृष्टि पड़ी है! लोग अपना हानि-लाभ नहीं समझते!

गंगापुत्र—न समझेंगे, तो पछतायँगे भी। हाँ मालिक, अपने गुलाम की यह बात याद रखिएगा—न समझेंगे, तो कपार पर हाथ धरके रोवेंगे।

वह व्यक्ति—भला यह भी कोई बात है। एक जगह रहना, एक जगह बसना, फिर यह दशा कि एक दूसरे के प्राण लेने पर उतारू हैं। राम-राम! इस मूर्खता का भी कोई ठिकाना है?

एक अन्य महाशय उसी स्थान के निकट दूसरे तख़्त पर खड़े वस्त्र पहन रहे थे। उन्होंने इन दोनों का कथोपकथन सुनकर कहा—ये मुसलमान ही हैं, जो हिंदुओं के प्राण लेने पर उतारू हैं। हिंदू तो चींटी मारना भी पाप समझते हैं; वे किसी के प्राण क्या लेंगे?

गंगापुत्र महाराज बोल उठे—सच है धर्मावतार! हिंदू और चाहे जो करें, हत्या नहीं कर सकते।

वह व्यक्ति बोला—करते क्यों नहीं, जहाँ हिंदुओं का दाँव लगता है, वहाँ हिंदू भी कर डालते हैं। पर इतनी बात अवश्य है कि हिंदू केवल क्षणिक क्रोध के वश होकर ऐसा करता है, और मुसलमान केवल इच्छा-मात्र उत्पन्न होने पर कर उठाता है।

गंगापुत्र—मुसलमान जितने निर्दयी होते हैं, उतना हिंदू नहीं हो सकता।

वह व्यक्ति—हाँ, इसमें कुछ सचाई अवश्य है। और इसका कारण केवल यह है कि मुसलमान मांसाहारी होते हैं। मांसाहारी लोग अवश्य कुछ निर्दय होते हैं, चाहे वे हिंदू हों, चाहे मुसलमान।

उसी समय लड़का ठंडाई का सामान ठीक कर लाया। गंगापुत्र ने सिल सामने रखकर ठंडाई घोटना शुरू कर दिया। ठंडाई भी घोटते जाते थे और बातें भी करते जाते थे।

दूसरा व्यक्ति बोला—कुछ हो, पर यहाँ झगड़ा अवश्य होगा।

गंगापुत्र—होगा, तो बजेगी भी ख़ूब। आप लोगों ने आख़िर किस दिन के लिये हम लोगों को माल खिला-खिलाकर पाला है? जिधर गंगामैया की जय कहकर धूम पड़ेंगे, उधर मैदान साफ़ हो जायगा। यहाँ क्या, यहाँ तो एक दिन मरना ही है।

पहला व्यक्ति—झगड़ा होना कोई अच्छी बात नहीं। चाहे हिंदू मिटें, चाहे मुसलमान, है बुरी बात। देश की हानि दोनों तरह से है। वही कहावत है कि यह जाँघ खोलो तो लाज, वह जाँघ खोलो तो लाज। (एक ठंडी साँस लेकर) न-जाने हमारे देश में कैसी दुर्बुद्धि छाई है कि छोटी-छोटी बातें भी किसी की समझ में नहीं आतीं।

गंगापुत्र—समझ में इन मुसलमानों के नहीं आतीं, हिंदू तो सब समझते हैं।

यह बात सुनकर वे दोनों व्यक्ति हँस पड़े। पहला व्यक्ति हँसने के बाद गंभीर होकर बोला—यही तो बड़ी ख़राबी है कि हिंदू मुसल-

मानों को सर्वथा दोषी समझते हैं और मुसलमान हिंदुओं को। वास्तविक बात क्या है, इसपर कोई ध्यान नहीं देता।

कुछ देर तक इसी प्रकार की बातें होती रहीं। इसके पश्चात् गंगा-पुत्र ने कहा—सरकार, ठंडाई तैयार है।

उस व्यक्ति ने ठंडाई पी और स्नान करने के लिये गंगा-तट पर चला गया।

(२)

पं० गंगाधर पांडेय एक अच्छे और सुशिक्षित आदमी हैं। बज़ाज़ी की दूकान करते हैं। अपने मुहल्ले में आदर-प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते हैं। इन्हें व्यायाम का शौक़ बचपन ही से है। अतएव ख़ूब बलवान् तथा हृष्ट-पुष्ट हैं। कुश्ती भी अच्छी लड़ते हैं, और लकड़ी चलाना भी जानते हैं। हृदय के उदार हैं, सबसे प्रेम-भाव से मिलते हैं। कट्टर हिंदू होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति इनके हृदय में द्वेष का लेश-मात्र नहीं है। इनके मुहल्ले में मुसलमानों के कई घर हैं। इन सबसे इनका मित्र-भाव है।

प्रदोप-व्रत का दिन था। पांडेयजी प्रदोप का व्रत रखते थे, और उस दिन दूकान नहीं जाते थे। शाम को पूजन इत्यादि से निवृत्त होकर पांडेयजी अपनी बैठक में बैठे थे। उसी समय उनके पड़ोसी मियाँ हशमतअली उधर से निकले। उन्हें देखते ही पांडेयजी बोले—अजी शेख़ साहब, कहाँ चले?

शेख़ साहब खड़े हो गए, बोले—ज़रा तफ़रीह (मनोरंजन) के लिये बाग़ की तरफ़ जा रहा हूँ।

पांडेयजी—आइए, दो-चार मिनिट बैठिए, मैं भी आपके साथ चलूँगा।

"बेहतर है" कहकर शेख़ साहब बैठक में चले आए, और एक कुर्सी पर बैठते हुए बोले—आज आप दूकान नहीं गए?

पांडेयजी ने कहा—आज मैंने व्रत रक्खा था, जिसे आप लोग रोज़ा कहते हैं, इसीलिये नहीं गया ।

शेख़ साहब बोले—हाँ, ठीक है; आप शायद महीने में दो बार रोज़ा रखते हैं ?

पांडेयजी—जी हाँ । कहिए, शहर की क्या ख़बरें हैं ?

शेख़ साहब मुँह बनाकर बोले—ख़बरें क्या, हालत अच्छी नहीं है । रोज़-मर्रा तरह-तरह की अफ़वाहें उड़ती हैं । कुछ बदमाश इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि हिंदू-मुसलमानों में झगड़ा हो जाय ।

पांडेयजी—यह बुरी बात है ।

शेख़ साहब—निहायत बुरी बात है । मगर किया क्या जाय, बदमाशों से कौन पेश पा सकता है ? ख़ुदा अपना फ़ज़ल (कृपा) करे । बदमाशों को क्या, उन्हें न आबरू जाने का ख़ौफ़, न जेल जाने का डर । मुसीबत बाल-बच्चेदार भले आदमियों पर है । फ़साद बदमाश करते हैं और उसका ख़िमियाज़ा (फल) शरीफ़ों को उठाना पड़ता है ।

पांडेयजी—मुसलमानों के इस बारे में कैसे ख़यालात हैं ?

शेख़ साहब—मुख़्तलिफ़ (भिन्न) तरह के ख़यालात हैं । पंडित-जी, यह बात याद रखिए, शरीफ़ और बदमाश हर मज़हब और हर क़ौम में हैं । शरीफ़ आदमी बुरी बात को हमेशा बुरा ही कहेगा, वह चाहे जिस क़ौम या फ़िरक़े का हो । बाज़ हिंदू समझते हैं कि मुसलमानों की क़ौम-की-क़ौम बदमाश है, और हिंदुओं को आज़ार (कष्ट) पहुँचाने की कोशिश करती रहती है । यह उनकी ग़लत-फ़हमी है । इसी तरह कुछ मुसलमान हिंदुओं को अपना जानी-दुश्मन समझते हैं । यह उनकी ग़लती है । मगर उन्हें समझावे कौन ?

पांडेयजी—यह आप दुरुस्त फ़रमाते हैं । मेरा भी ऐसा ही

ख़याल है। लेकिन एक बात ग़ौर-तलब है। लड़ाई-झगड़े की आग कौन भड़काते हैं, इसका पता नहीं चलता।

शेख़ साहब—अजी, यह तो ज़ाहिर बात है कि मज़हबी तअस्सुब ही इन झगड़ों की बुनियाद है। हिंदू और मुसलमान, दोनों में ऐसे सैकड़ों आदमी मिलेंगे, जो इंतहा के तअस्सुबी हैं। तअस्सुब को ये लोग मज़हब का ज़ेवर समझते हैं। ये ही लोग झगड़ा-फ़साद कराने की कोशिश करते हैं।

पंडितजी—आख़िर इससे उन्हें फ़ायदा ?

शेख़ साहब—फ़ायदा ? शेख़ सादी साहब का क़ौल याद कीजिए—

नेशे अक़रब न अज़पए कीनस्त ;
मिक़तिज़ाए तबीयतश ईनस्त।

अर्थात् बिच्छू की तो डंक मारने की आदत होती है, उसे इससे क्या बहस कि किसी को तकलीफ़ पहुँचती है या आराम मिलता है ? यही हालत इन मुफ़सिदों (झगड़ा करानेवालों) की है। इनकी ख़सलत (स्वभाव) यही है कि बैठे-बिठाए आग भड़काना। अगर ये लोग ऐसा न करें, तो खाना हज़म न हो।

शेख़ साहब की यह बात सुनकर पांडेयजी बहुत हँसे। शेख़ साहब भी कुछ मुसकिराते हुए बोले—वल्लाह, मैं सच कहता हूँ, आप इसे ख़िलाफ़ मत समझिए। मैं एक नहीं, बीस आदमी ऐसे बता सकता हूँ, जिनका रात-दिन यही काम है। जुमे के दिन मैं जामा-मसजिद में नमाज़ पढ़ने जाता हूँ। वहाँ देखता हूँ, अजीब-अजीब क़िमाश के लोग जमा होते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वे नमाज़-वमाज़ तो बराए-नाम पढ़ते हैं, हाँ मुसलमानों को हिंदुओं के ख़िलाफ़ भड़काने की कोशिश ख़ूब किया करते हैं।

पांडेयजी—हम हिंदुओं में भी ऐसे बहुत-से आदमी हैं, जो मुसलमानों के ख़िलाफ़ हिंदुओं को भड़काते हैं।

शेख़ साहब—ज़रूर होंगे। मैंने अर्ज़ किया न कि ऐसे मुफ़सिद आपको हर क़ौम में मिलेंगे। सो जनाब, करते थोड़े आदमी हैं, बदनाम कुल क़ौम होती है। और, ख़ता मुआफ़ कीजिएगा, लीडरों में भी ऐसे बहुत-से हैं, जो ख़्वाहमख़्वाह लोगों को जोश दिलाते हैं। कहने को तो हिंदू-मुसलिम-इत्तहाद (एकता) की कोशिश करते हैं, मगर लेक्चरों में ऐसी-ऐसी बातें कहते हैं, जिससे बिला वजह दोनों क़ौमें एक दूसरे के ख़िलाफ़ भड़कती हैं।

पांडेयजी—आपका फ़र्माना दुरुस्त है। मैंने भी कई बार इस बात को महसूस किया है।

शेख़ साहब—हमारे यहाँ मुल्ला और आपके यहाँ पंडित लोग, इन्हीं की वजह से ज़ियादा फ़साद होता है। मुल्ला लोगों की यह हालत है कि ख़ुदा बचावे। ऐसी-ऐसी बातें कहते हैं कि जुहला (मूर्ख) लोगों में जोश पैदा होता है। जो आक़िल (समझदार) हैं, वे कुछ बोल नहीं सकते। कुछ कहें, तो झट से मुल्ला साहब फ़तवा दे देते हैं कि यह काफ़िर है, मुरतिद है। लाचार ख़ून पीकर रह जाना पड़ता है। जब झगड़ा होता है, तो मुल्लाजी हुजरा(कोठरी) बंद करके बैठ रहते हैं।

पांडेयजी—बिलकुल सच है। ऐसी ही हालत है।

शेख़ साहब—जनाब, मैं तो इन बातों को पसंद नहीं करता। और, मुझी पर क्या फ़र्ज़ है, कोई भी शरीफ़ समझदार आदमी इन्हें पसंद न करेगा। हाँ, तो आप बाग़ चलेंगे? अगर न चलें, तो मुझे इजाज़त दीजिए।

पांडेयजी—चलता हूँ।

यह कहकर पांडेयजी ने शीघ्रता-पूर्वक वस्त्र पहने, और शेख़ साहब के साथ हो लिए।

(३)

शेख़ साहब के मकान के सामने ज़रा कुछ हटकर एक पठान का मकान था। इनका नाम सआदतख़ाँ था। यह पढ़े-लिखे वाजिबी-ही-वाजिबी थे, मगर अव्वल नंबर के चलते-पुर्ज़े थे। इनकी बिसातख़ाने की एक छोटी-सी दूकान थी। उसी से जीविका चलती थी। इनमें तअस्सुब कूट-कूटकर भरा हुआ था। यह व्यक्ति उन लोगों में से था, जो धर्म का अर्थ केवल विधर्मियों से घृणा करना समझते हैं। इनका एक जवान पुत्र भी था, जिसकी आयु २०-२२ वर्ष की होगी। इसका नाम रहमतअलीख़ाँ था। धार्मिक द्वेष में रहमतअली भी किसी प्रकार अपने पिता से कम न था। यह व्यक्ति भी सदैव हिंदुओं को वक्र दृष्टि से देखता रहता था।

रात के आठ बज चुके थे। पिता-पुत्र, दोनों बैठे भोजन कर रहे थे। सामने कुछ दूर पर पानदान सामने रक्खे रहमतअली की माँ पान लगा रही थी। पान लगाते हुए रहमतअली की माँ ने कहा—ऐ, यह तीन-चार रोज़ से कैसी ख़बरें उड़ रही हैं? कहते हैं, हिंदू-मुसलमानों में झगड़ा होगा।

रहमतअली बोल उठा—जो हिंदू झगड़े का काम करेंगे, तो ज़रूर झगड़ा होगा।

रहमतअली के पिता ने कहा—झगड़े की बातें तो कर ही रहे हैं। हिंदू अपनी शरारत से बाज़ नहीं आते। लिहाज़ा झगड़ा ज़रूर होगा।

रहमतअली की माँ ने कहा—जो झगड़े का ख़ौफ़ हो, तो इस मुहल्ले से कुछ दिनों के लिये टल जायँ। यहाँ हिंदुओं की आबादी ज़ियादा है। कहीं किसी वक़्त निगोड़े हमला न कर बैठें।

रहमतअली—हमला करना ख़ालाजी का घर नहीं है! दाँत खट्टे हो जायँगे! मुक़ाबिला पड़े, तो हाल खुले। हिंदुओं को छठी का दूध याद न आ जाय, तभी कहना।

सआदतख़ाँ—हिंदुओं में इत्तिफ़ाक़ (मेल) तो है ही नहीं, हमला क्या ख़ाक करेंगे? जिस वक़्त झगड़ा हुआ, तो एक भी बाहर न दिखाई पड़ेगा, सब अपने-अपने दरवाज़े बंद करके बैठ रहेंगे। निहायत बोदी क़ौम है।

रहमतअली की माँ—लाख बोदी हो, मगर तादाद में तो ज़ियादा हैं। मसल मशहूर है कि दबने पर चींटी भी काट खाती है। दुश्मन से कभी बेख़ौफ़ न रहना चाहिए।

रहमतअली—हाँ, यह तो दुरुस्त है—"दुश्मन नातवाँ हक़ीर व बेचारा शुमर्द।" दुश्मन को कभी हक़ीर (तुच्छ) न समझना चाहिए।

सआदतख़ाँ—कल मेरी शेख़ इशमतअली से इसी बारे में गुफ़्तगू हुई थी। अजीब क़िमाश के आदमी हैं। मैंने तो ऐसा आदमी ही नहीं देखा।

रहमतअली की माँ—क्या कहते थे?

सआदतख़ाँ—वह तो बस, हर बात में यही कहते थे कि मिल-जुलकर रहना चाहिए।

रहमतअली—अजी, आप भी किस काफ़िर की बातें करते हैं। वह तो आधा हिंदू है। मरदूद जब देखो, हिंदुओं की हिमायत करता रहता है।

सआदतख़ाँ—हिंदुओं से उसका मेल-जोल भी ख़ूब है।

रहमतअली—अजी, मैं तो ऐसे मेल-जोल पर लानत भेजता हूँ। हिंदू और मुसलमान का मेल ही क्या। कुजा (कहाँ) स्याही, कुजा सफ़ेदी।

रहमतअली की माँ—हमारे पड़ोस में जो पंडितजी रहते हैं, वह तो भले आदमी हैं।

रहमतअली—कौन, पं० गंगाधर?

माँ—हाँ!

रहमत—भले-चले कुछ नहीं हैं, सब स्याह-क़ल्ब (कलुषित-हृदय) हैं। इन काफ़िरों का कोई एतबार नहीं।

सआदत—इशमतअली से उनकी राहोरस्म ख़ूब है।

रहमत—मैंने कहा न, वह तो आधा हिंदू है। अब्बाजान, कल मैं जामा-मसजिद गया था। वहाँ एक मौलवी साहब ने हिंदुओं के बारे में ऐसी-ऐसी बातें बतलाईं कि ख़ूब जोश खाने लगा। वल्लाह, यही जी चाहता था कि इन बेदीनों से कोई तअल्लुक़ न रक्खे। मुसलमानों को ये बड़ी हिक़ारत की नज़र से देखते हैं।

सआदत—यह बात तो ज़ाहिर है कि ये लोग हमारा छुआ हुआ नहीं खाते। हालाँकि सच पूछो, तो मुसलमानों को ही इनका छुआ न खाना चाहिए।

रहमत—मैं तो जब इन लोगों के इस बर्ताव पर ग़ौर करता हूँ, तो बेअख़्तियार तैश (क्रोध) आता है।

माँ—तू कहीं किसी से लड़ न बैठना। तुझे बड़ी जल्दी ग़ुस्सा आता है।

रहमत—अम्माँ, लड़ाई तो एक बार होगी, और ज़रूर होगी, यह रुक नहीं सकती।

मा—उई अल्लाह, बेटा, मेरे सामने लड़ाई-झगड़े का ज़िक्र मत करो, मेरा दम ख़ुश्क होता है।

उसी समय रहमतअली की षोडशवर्षीया भगिनी उस स्थान पर आई। उसने पूछा—अम्मीजान, कहाँ लड़ाई होगी?

माँ—लड़ाई-वड़ाई कहीं कुछ नहीं है, ऐसे ही बातचीत हो रही है।

कन्या—कल भाई साहब एक अख़बार लाए थे, मैंने उसमें पढ़ा था कि एक जगह—देखो, नाम याद नहीं आता—बड़ी लड़ाई हुई, हिंदू-मुसलमान आपस में कट मरे।

माँ—हुई होगी, तुझे इन झगड़ों से क्या मतलब? आज अभी

तू सोई नहीं, और दिन तो चिराग़ जलते ही पलँग पर पहुँच जाती थी ?

कन्या ने कुछ लजाकर मुसकिराते हुए कहा—आज नींद नहीं आई।

माँ—तो जा, सो जाकर।

कन्या—एक पान खिला दो, तो जाऊँ।

माँ—दुर निगोड़ी, पान खाके सोएगी !

माँ ने एक पान लगाकर दे दिया। कन्या पान लेकर चली गई।

उसके चले जाने पर माँ बोली—बेटा रहमत, तुम घर में ऐसे-वैसे अख़बार मत लाया करो। कुलसूम (कन्या का नाम) पढ़ती है, इसका ख़ून बड़ा हलका है, बड़ी जल्दी दहशत (भय) खा जाती है। देखा न, ज़रा कान में भनक पड़ गई, फ़ौरन् दौड़ी आई।

पिता-पुत्र दोनों भोजन करके उठे। माँ ने पुकारा—ऐ नसीबन, नसीबन ! मुई कहीं ग़ारत हो गई !

कन्या ने पूछा—क्या है अम्मीजान ?

माँ—यह नसीबन निगोड़ी कहाँ मर गई ?

कन्या—नसीबन तो यहाँ पड़ी ख़र्राटे ले रही है।

माँ—लो, मुई को शाम ही से साँप सूँघ गया ! जगा दे मुरदार को। कुछ देर में नसीबन लौंडी आँखें मलती हुई आई। रहमत-अली की माँ बोली—ऐसी शाम ही से कहाँ की नींद फट पड़ी ? दिन-दिन शऊर को दीमक लगती जा रही है ?

नसीबन—मैं तो बीबी कुलसूम को कहानी सुना रही थी। सुनाते-सुनाते सो गई।

माँ—जा, झटपट आफ़्ताबा और सिलफ़ची लाकर हाथ धुला।

नसीबन ने जल लाकर पिता-पुत्र के हाथ धुलाए। हाथ धोकर दोनों ने पान खाए। पुत्र तो सोने के लिये अपनी शय्या पर चला गया, पिता वहीं खड़ा रहा। पुत्र के चले जाने पर पत्नी ने पति से

दोनों ओर ऐसे लोगों का आधिक्य था, जो लोगों में एक दूसरे के प्रति घृणा तथा क्रोध की आग भड़काने में लगे हुए थे। रुई की आग की तरह यद्यपि बाहर से असंतोष तथा द्वेष के कोई स्पष्ट चिह्न प्रतीत नहीं होते थे, परंतु भीतर-ही-भीतर खूब आग फैल रही थी। मुसलमान हिंदुओं के और हिंदू मुसलमानों के रक्त के प्यासे हो रहे थे।

पं० गंगाधर उन इने-गिने आदमियों में से थे, जिन्हें धार्मिक द्वेष छू तक नहीं गया। जिस प्रकार वह मंदिर के अनादर को सहन नहीं कर सकते थे, उसी प्रकार मसजिद के अनादर को भी। उनका सिद्धांत था कि सभी धर्मों में कुछ-न-कुछ सार अवश्य है। जो जिस धर्म में उत्पन्न हुआ है, उसे अपने ही धर्म में रहना और दूसरों के धर्म का आदर करना चाहिए। धार्मिक स्वतंत्रता सबको समान रूप से प्राप्त रहनी चाहिए। जो धर्म दूसरे धर्म का अनादर करने की शिक्षा देता है, वह धर्म नहीं, अधर्म है। जब कभी उनसे और किसी हिंदू से बातचीत होती और वह इनके सिद्धांत सुनता, तो यह समझता था कि पांडेयजी मुसलमानों का पक्ष लेते हैं। उनके मुँह पर तो नहीं, परंतु पीठ-पीछे लोग कह दिया करते थे—"आख़िर मुसलमानों के पड़ोस में रहते हैं न, कहाँ तक प्रभाव न पड़े! ऐसे ही लोग समय पड़ने पर चोटी कटाकर मुसलमान हो जाते हैं।" कभी-कभी पांडेयजी के कानों तक भी यह बात पहुँच जाती थी; परंतु वह सुन लेते थे और मुसकिराकर चुप रह जाते थे।

एक दिन रात को मुहल्ले के तीन-चार आदमी पांडेयजी के मकान पर पहुँचे। उस समय वह भोजन करके कमरे में बैठे 'लीडर' पढ़ रहे थे। लोगों को देखते ही उन्होंने मुसकिराकर कहा—आइए, आज यह दल किधर भूल पड़ा?

उनमें से एक बोला—आप ही के पास आए हैं।

पांडेयजी—कहिए, क्या आज्ञा है?

पहला—बात यह है कि आजकल शहर की हालत जैसी है, वह आप जानते ही हैं।

पांडेयजी—हाँ-हाँ।

दूसरा—यह भी आपको ज्ञात है कि इस मुहल्ले में चार-पाँच घर मुसलमानों के भी हैं।

पांडेयजी—हाँ-हाँ।

पहला—तो ऐसी दशा में हम लोगों की रक्षा का क्या उपाय है?

पांडेयजी मुसकिराए। उनके मुख पर कुछ घृणा का भाव उत्पन्न हुआ। कुछ देर तक चुप रहकर उन्होंने कहा—इस मुहल्ले में अधिकतर तो हिंदू ही हैं। यह आप मानते हैं न?

पहला—हाँ, मानेंगे क्यों नहीं।

पांडेयजी—तो ऐसी दशा में रक्षा का अधिक विचार मुसलमानों के हृदय में उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि वे लोग कम हैं। आप लोग क्यों चिंता करते हैं? आपका तो मुहल्ला ही है।

दूसरा—अजी पांडेयजी, इन लोगों को आप जानते हैं, जहाँ एक ने अल्लाहोअकबर की आवाज़ लगाई, वहाँ चींटियों की तरह ताँता बँध जायगा। हम लोगों में से तो कोई घर के बाहर भी न निकलेगा।

पांडेयजी—तो इसमें किसका अपराध है? जब आप संख्या में अधिक होते हुए भी अपनी रक्षा करने में असमर्थ हैं, तो मुसलमानों को दोष देना व्यर्थ है।

तीसरा—हमारा अभिप्राय यह है कि आपका मुसलमनों से मेल-जोल अधिक है, इस कारण आप उनके इरादों को जानते होंगे। हम लोग तो इन यवनों से बात करना भी उचित नहीं समझते।

पांडेयजी—आप लोग बात करना उचित समझते होते, तो आज यह नौबत ही क्यों आती ?

दूसरा—ख़ैर, इससे कोई बहस नहीं। अब यह बताइए कि हम लोगों को क्या करना चाहिए ?

पांडेयजी—मैं तो यह जानता हूँ कि आप लोग अपने-अपने घर में बैठें और अपनी रक्षा का यथेष्ट प्रबंध रक्खें। स्वयं किसी पर आक्रमण करने का स्वप्न में भी विचार न करें। हाँ, यदि आप पर आक्रमण हो, तो उससे बचें, और समय पड़ने पर धैर्य तथा साहस के साथ एक दूसरे की सहायता करें। हिंदुओं में यह बड़ा भारी दोष है कि वे केवल अपना स्वार्थ देखते हैं। यदि एक हिंदू पिट रहा है, तो दूसरा खड़ा-खड़ा देखेगा, उसकी सहायता कभी न करेगा। यह बुरी बात है। यही दशा देखकर दूसरों को हिंदुओं पर आक्रमण करने का साहस होता है।

इसी प्रकार समझा-बुझाकर पांडेयजी ने उन्हें विदा किया। दो-तीन दिन इसी प्रकार व्यतीत हो गए। एक दिन संध्या को सआदत-अलीख़ाँ के मकान से मिले हुए एक हिंदू के मकान में सत्यनारायण की कथा थी। अतएव शंख और घड़ियाल बजाना स्वाभाविक था। इस पर सआदतअलीख़ाँ ने आपत्ति की। परंतु उनकी बात पर किसी ने कान न दिया। यह देखकर उस समय तो वह चुप हो गए, पर दूसरे दिन शाम को दस-बारह लठ-बंद मुसलमान उस हिंदू के द्वार पर आकर जमा हो गए, और लगे गालियाँ बकने। वह बेचारा घर का द्वार बंद करके बैठ रहा। यह देखकर मुसलमान किवाड़े तोड़कर भीतर घुसने की चेष्टा करने लगे। इसकी सूचना पं० गंगाधर को मिली। यह सुनते ही वह घबरा उठे। उन्होंने तुरंत एक लाठी अपने हाथ में ली और एक अपने नौकर को, जो ठाकुर था, देकर उसे साथ लिया और निकल खड़े हुए। बाहर निकलकर उन्होंने पहले तो देखा

कि शेख़ साहब अपने दोमंज़िले पर खड़े हैं, और नीचे सआदतख़ाँ और उनका लड़का खड़ा है। सआदतख़ाँ शेख़ साहब को गालियाँ दे रहे थे—अबे ओ काफ़िर, नीचे उतर, आज तुझे भी हिंदुओं के साथ जहन्नुम पहुँचा दूँ। अबे ओ मरदूद, उतरता क्यों नहीं? जब देखो, हरामज़ादा हिंदुओं की हिमायत करता था। अब कुछ हिम्मत हो, तो मर्दों के सामने आ।

यह देखकर पहले तो पांडेयजी ने एक ज़ोर की आवाज़ लगाई कि हिंदू-भाइयो, तुम्हें शर्म नहीं आती कि तुम्हारे एक भाई के प्राण संकट में हैं और तुम सब चूड़ियाँ पहने घर में बैठे हो। इससे तो तुम जन्म लेते ही मर गए होते, तो अच्छा था। देखो, मैं आगे चलता हूँ। जिसको आना हो, मेरे पीछे आवे।

यह कहकर पांडेयजी अपने नौकर-सहित उधर चले। पहले सआदतख़ाँ से मुठभेड़ हुई। पांडेयजी ने कहा—सआदतख़ाँ, शेख़ साहब को क्यों गालियाँ देते हो? उनका क्या क़ुसूर? जो कुछ कहना हो, मुझसे कहो।

पांडेयजी को देखते ही सआदतख़ाँ चिल्ला उठा—इस हरामज़ादे को मारो, ख़ूब मारो! यही सारे फ़साद की जड़ है।

यह सुनते ही तीन-चार मुसलमान पांडेयजी की ओर बढ़े।

पांडेयजी ने सआदतख़ाँ से कहा—ख़ाँ साहब, अफ़सोस यही है कि आप मेरे पड़ोसी हैं। मैं पड़ोसी और भाई का एक ही दर्जा समझता हूँ, वरना अभी तक आपकी लाश पड़ी होती।

यह सुनते ही रहमतअलीख़ाँ ने लाठी उठाकर यह कहते हुए पांडेयजी पर वार किया—ओ नजिस कुत्ते, तेरा भाई कहीं जहन्नुम में पड़ा होगा!

पांडेयजी लठैत आदमी थे, इस लौंडे के वार को क्या समझते। उन्होंने अपनी लाठी पर उसकी लाठी रोककर तुरंत उलझावे से लाठी

निकाली, और 'ख़बरदार' कहकर एक हलका-सा हाथ जो मारा, सो रहमतअली मुँह के बल ज़मीन पर आ रहा।

पांडेयजी सआदतख़ाँ से बोले—आपने इस लौंडे को बड़ा गुस्ताख़ बना रक्खा है। अपने बड़ों से भी गुस्ताख़ी करता है। इतना सुनते ही सब मुसलमान क्रोधांध होकर पांडेयजी पर टूट पड़े। खटाखट-खटाखट के अतिरिक्त न तो कुछ सुनाई पड़ता था और न कुछ दिखाई। पाँच मिनट तक यही दशा रही। पाँच मिनट बाद अन्य मुसलमान तो भाग खड़े हुए, केवल सआदतख़ाँ और रहमतअलीख़ाँ भूमि पर पड़े कराह रहे थे। पांडेयजी के सिर से भी रक्त बह रहा था, और उनके नौकर के भी चोट लगी थी।

पांडेयजी उन दोनों को वहीं छोड़कर चले आए। घर आकर उन्होंने अपना सिर धोया और पट्टी बाँधी। नौकर ने भी अपने घाव धोकर पट्टी बाँध ली।

बीस मिनट बाद ही फिर शोर मचा। पांडेयजी ने नौकर से कहा—मालूम होता है, मुसलमान फिर आ गए। यह कहकर उन्होंने फिर लाठी उठाई। नौकर भी अपनी लाठी लेकर साथ चला।

घटना-स्थल पर पहुँचे, तो देखा, सआदतख़ाँ शोर मचा रहा है। पांडेयजी को देखते ही बोला—पंडितजी, ख़ुदा के लिये मेरी आबरू बचाइए। आपके जाते ही दस-बारह हिंदू लाठी लेकर आए। पहले मुझे और मेरे लड़के को मारा, अब मेरे घर में घुस गए हैं—मेरे घर की औरतों को बेइज़्ज़त कर रहे हैं।

यह सुनते ही पांडेयजी की आँखों-तले अँधेरा छा गया। वह तुरंत सआदतख़ाँ के घर में घुसे। उन्होंने देखा, सआदतख़ाँ की पत्नी को दो-तीन हिंदू पकड़े खड़े हैं, और एक व्यक्ति उनकी युवती कन्या को पकड़कर घसीट रहा है।

यह देखते ही पांडेयजी ने गर्जकर कहा—कायरो; यह क्या करते

हो ? जब तुम्हारे बाप आए थे, तब तो सब अपनी-अपनी जोरुओं के लहँगों में घुसे बैठे रहे, और अब उसे निस्सहाय पाकर यह अत्याचार कर रहे हो ? अलग हटो, नहीं मारे लाठियों के सबकी खोपड़ी तोड़ दूँगा।

पांडेयजी गर्जना सुनते ही लोगों ने भयभीत होकर स्त्रियों को छोड़ दिया। एक हिंदू-युवक आगे बढ़कर बोला—इन मुसलमानों ने हमारे एक भाई के घर में घुसकर औरतों को बेइज्ज़त करना चाहा था, तो हम भी क्यों न वैसा ही करें ?

पांडेयजी पुन: गर्जकर बोले—उस समय तुम सब कहाँ मर गए थे ? उनको परास्त करके ऐसा करते, तो कुछ वीरता भी थी। और, यदि मुसलमान जहन्नुम में जायँ, तो तुम भी क्या उनके साथ जाओगे ? एक सच्चे हिंदू का यह कर्तव्य नहीं कि निस्सहाय मर्द पर भी ऐसा अत्याचार करे, न कि अबलाओं पर। स्त्रियाँ, बच्चे और देवस्थान, ये सबके बराबर हैं। इन पर जो अत्याचार करता है, वह कायर है, नारकी है, चाहे वह किसी भी जाति का हो। स्त्री किसी भी जाति की हो, वह सदैव अबला है। प्रत्येक पुरुष को उसकी रक्षा करनी चाहिए। बच्चा किसी भी क़ौम का हो, सदैव दया के योग्य है। इन पर अत्याचार करनेवाला मनुष्य नहीं, दैत्य है, पिशाच है, पशु है।

कहते-कहते पांडेयजी के मुँह में फेना आ गया। एक हिंदू ने पुनः साहस करके कहा—आप इस झगड़े में न पड़िए, अपने घर जाइए। हम लोग जैसा उचित समझेंगे, वैसा करेंगे।

पांडेयजी की आँखों से खून बरसने लगा। उन्होंने दाँत पीसकर कहा—जब तक मेरी लाश न गिरेगी, तब तक तुम इन स्त्रियों के हाथ नहीं लगाने पाओगे। एक पाप तो तुमने यह किया कि पर्दानशीन स्त्रियों के आकर हाथ लगाया। अब दूसरा पाप नहीं करने पाओगे। नामर्दो, तुम्हें उचितानुचित का ज्ञान है कहाँ ? उचिता-

नुचित का ज्ञान होता, तो लहँगे पहनकर घर में घुसे बैठे रहते! तुम्हारे-जैसे ही ज़नानों ने हिंदू-जाति को बदनाम किया, और मुसलमानों का साहस बढ़ाया। पुरुषों के सामने तो निकलते नानी मरती थी, अब स्त्रियों को अपनी वीरता दिखाने आए हो? जाओ, गंगा में जाकर डूब मरो! तुम लोगों के मरने से हिंदू-जाति साफ़ हो जायगी। फिर एक हिंदू ने कहा—मुसलमान हमारी माँ-बेटियों को बेइज़्ज़त करते हैं। आप उनको यह व्याख्यान क्यों नहीं सुनाते?

पांडेयजी—मैं हिंदू हूँ, हिंदुओं से कहने का मेरा अधिकार है। इसके अतिरिक्त, मूर्खो, तुम मुसलमानों के अवगुणों की नक़ल करते हो? यदि नक़ल करना है, तो उनमें निर्भयता, साहस, संगठन आदि जो गुण हैं, उनकी नक़ल करो। परंतु यह तो म्याऊँ का ठौर है न, उसे कैसे कर सकते हो! अबलाओं और बच्चों को मुलायम चारा पाया, इसलिये इस बात में झट मुसलमानों की नक़ल करने दौड़े। बस, मैं कहता हूँ, चुपचाप चले जाओ, अन्यथा एक-एक को गिन-गिनकर यहीं सुला दूँगा।

यह कहकर पांडेयजी ने लाठी घुमाई। यह देखते ही सब हिंदू घबराकर वहाँ से हटे, और बाहर चले आए। सआदतख़ाँ भी पांडेयजी के पीछे-पीछे चला आया था, और एक खंभे की आड़ में खड़ा होकर यह सब लीला देख रहा था। जब हिंदू चले गए, तो पांडेयजी ने सआदतख़ाँ की पत्नी से कहा—बहन, तुम बेख़ौफ़ होकर बैठो। मेरे रहते तुम पर कभी आँच न आने पावेगी। हम मर्द-मर्द आपस में लड़ें या कटें; पर तुम्हारी हिफ़ाज़त अपनी जान देकर करेंगे।

सआदतख़ाँ की पत्नी ने रोते हुए कहा—भैया, मैं हमेशा इनको मना करती रही कि हिंदुओं से दुश्मनी क्यों मोल लेते हो? सब ख़ुदा के बंदे हैं। मगर इन्होंने न माना। आज तुम न आ जाते, तो हमारी आबरू जाने में बाक़ी ही क्या रह गया था!

पांडेयजी नेत्रों में आँसू भरकर बोले—बहन, मैं अच्छी तरह यक़ीन करता हूँ कि तुमने ज़रूर इनको मना किया होगा। औरतों का दिल ही ऐसा होता है। वे कभी लड़ाई-झगड़ा पसंद नहीं करतीं। वे हमेशा अमन चाहती हैं। उनका दिल इतना सख़्त कभी नहीं हो सकता कि वे ख़ून-ख़राबी देख सकें। ऐसे औसाफ़ (गुण) रखनेवाली औरत पर जो ज़ुल्म करे, वह संगसार (पत्थरों से मार डाले जाने) करने के क़ाबिल है।

सआदतअलीख़ाँ खंभे की आड़ से निकलकर पांडेयजी के चरणों पर गिर पड़ा, और रोते हुए बोला—पंडितजी, मेरी ख़ता मुआफ़ कीजिए। मैं नहीं जानता था कि आपका दिल इतना वसीअ (विशाल) है। आप इंसान नहीं, फ़रिश्ते हैं।

पांडेयजी उसे उठाकर बोले—सआदतख़ाँ, तुमने अपने नाजायज़ तअस्सुब की वजह से इतना तूल दे दिया। तुम्हारे ही-जैसे हिंदू-मुसलमान फ़साद कराते हैं, और बदनाम कुल क़ौम होती है। तुम्हारे पड़ोसी शेख़ साहब भी तो मुसलमान हैं, और तुमसे ज़ियादा उन्हें अपने मज़हबी उसूलों की मालूमात है। मगर उनका बर्ताव देखो। हिंदू-मुसलमानों से एक तरीक़े पर मिलते हैं; मज़हबी इख़्तलाफ़ (अभेद) कभी ज़ाहिर ही नहीं होता। तुमने बड़ी नादानी की थी। ख़ैर "रसीदः बूद बलाए वले बख़ैर गुज़श्त।" अब इस तअस्सुब को छोड़ो, और सबसे मुहब्बत का बर्ताव करो।

उसी समय शेख़ साहब भी आ गए, और सआदतख़ाँ से बोले—ख़ाँ साहब, आज देखा तुमने, इसी वजह से मैं हिंदुओं की हिमायत करता था। मैं जानता हूँ, हिंदुओं में भी शरीफ़ और फ़रिश्ता-ख़सलत (देव-तुल्य) इंसान मौजूद हैं, और मुसलमानों में भी शयातीन (पिशाच) भरे हैं। आज यह न होते, तो तुम्हारी आबरू पर पानी फिर जाता।

सआादतख़ाँ ने कहा—मैं आज से तोबा करता हूँ। कभी हिंदुओं से तअस्सुब न रक्खूँगा।

यह कहकर सआादतख़ाँ पांडेयजी से लिपट गया, और बोला—पंडितजी, आज से आप मेरे भाई हैं।

पांडेयजी मुसकिराकर बोले—मैं तो तुम्हें हमेशा भाई समझता रहा। शुक्र है, आज तुमने भी भाई को पहचान लिया। मैंने कोई एहसान नहीं, केवल अपने कर्तव्य का पालन किया है।

ईश्वर का डर

(१)

ठाकुर चंदनसिंह दस मौज़ों के ज़मींदार हैं। उनकी ज़मींदारी उनके निवास-ग्राम के चारों ओर के ग्रामों में है। अतएव छः-सात कोस के इर्द-गिर्द उनका पूरा राज्य है। ठाकुर चंदनसिंह वैसे ही ज़मींदार हैं जिन्होंने सहृदयता तथा मनुष्यत्व का मूल्य समझनेवालों के हृदयों में ज़मींदारों के प्रति घृणा-पूर्ण विरोध का भाव उत्पन्न कर दिया है। वह ग़रीब प्रजा का रक्त चूसना ज़मींदारी का भूषण समझते हैं। अनुचित बेगार लेना उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है। साधारण सड़ी-सी बात पर दीन-दुखियों को पिटवा देना उनके लिये एक ज़मींदारी शान है। जो ग्राम उनकी ज़मींदारी में नहीं हैं, उनकी प्रजा भी उनसे थर-थर काँपती है। क्या मजाल कि ठाकुर चंदनसिंह के प्रतिकूल कोई चूँ तक कर सके!

दोपहर का समय था। ठाकुर चंदनसिंह अपने पक्के मकान की चौपाल में बैठे हुए हुक्का पी रहे थे। उनके पास उनके दो-चार मुसाहब भी बैठे थे। उसी समय एक कृषक एक उजली मिरज़ई पहने, एक मोटी सफ़ेद धोती (जो घुटनों के कुछ ही नीचे तक थी) तथा सिर पर एक धुला कपड़ा लपेटे ठाकुर के सामने आया, और बोला—"जुहार मलिकौ!" ठाकुर साहब ने केवल ज़रा यों ही सिर हिला दिया। कृषक एक ओर भूमि पर बैठ गया। ठाकुर साहब कुछ देर तक उसकी ओर देखते रहे। तत्पश्चात् बोले—"कौन है रे?"

कृषक बोला—सरकार मैं तो आपका अहीर हूँ, कालका।

ठाकुर साहब बोले—कालका है—हूँ—अब तो पहचान ही नहीं पड़ता। बहुत दिनों में दिखाई पड़ा। कहाँ था?

कालका—मालिक, सहर चला गया था। साल-भर वहीं रहा।

ठाकुर—शहर में क्या करता रहा?

कालका—नौकरी करता हूँ।

ठाकुर—काहे में नौकर है।

कालका—डेरी फ़ारम में?

ठाकुर—क्या सरकारी डेरी फ़ारम में?

कालका—नहीं मालिक, एक महाजनी डेरी फ़ारम है।

ठाकुर चंदनसिंह 'हूँ' करके चुप हो गए। उनके माथे पर बल पड़ गए। थोड़ी देर तक चुपचाप हुक्क़ा पीते रहे। फिर बोले—सुनो कालका, आज तो हम तुम्हें छोड़े देते हैं, पर अब जो कभी हमारे सामने यह ठाठ बनाकर आए, तो ठीक न होगा। जैसे हो वैसे ही रहना ठीक है।

कालका काँप उठा। उसे स्वप्न में भी यह आशा न थी कि ठाकुर साहब को उसके इन साधारण कपड़ों में भी ठाट की झलक दिखाई पड़ेगी। उसने सोचा, यहाँ से टल जाना ही अच्छा है। यह सोच वह 'जुहार' करके वहाँ से चलता बना।

उसके चले जाने पर ठाकुर चंदनसिंह बोले—मालूम होता है, इसने शहर में रहकर माल पैदा किया है। बाप की तो गोबर ढोते-ढोते उमर बीत गई, और साबित लँगोटी तक न जुड़ी!

एक मुसाहब, जिसका नाम सुघरसिंह था, बोला—मालिक, इसने रुपया कमाया है। अभी उस रोज़ एक सत्तर रुपए की भैंस मोल ली है। तकिए के मेले से एक जोड़ी बैलों की भी लाया है।

ठाकुर चंदनसिंह बोले—हाँ?

सुघरसिंह—मैं आपसे झूठ थोड़े ही कहता हूँ।

ठाकुर चंदनसिंह बोले—इतना माल पैदा किया, और हमें दो रुपए नज़र तक के न दिए!

एक दूसरा मुसाहब बोला—सरकार, यह मोटा हो गया है। नीच जाति के पास जहाँ चार पैसे हुए, वहाँ फिर वह अँगूठों के बल चलने लगता है। कहावत ही है "गगरी दाना, सूद उताना।"

ठाकुर चंदनसिंह 'हूँ' करके कुछ सोचते रहे।

दूसरे दिन ठाकुर साहब ने उसी गाँव के, जिसमें कालका अहीर रहता था, एक ब्राह्मण को बुलाया, और उसको अलग ले जाकर कुछ देर तक बातें करते रहे। बातें कर चुकने पर उससे बोले—अच्छा, जाओ। पर देखो महाराज, जैसा कहा है, उसमें फ़रक़ न पड़े। नहीं तो चूतड़ कटवा दूँगा। यह याद रखना!

ब्राह्मण देवता हाथ जोड़कर बोले—नहीं मालिक, फ़रक़ कैसे पड़ सकता है।

इसके दूसरे दिन प्रातःकाल एक आदमी ठाकुर साहब के पास आया। ठाकुर साहब शौच से निवृत्त होकर बैठे दतून कर रहे थे। वह व्यक्ति ठाकुर साहब से बोला—सुना, नरायनपुर में कल रात को बिंदा महाराज के यहाँ चोरी हो गई है।

ठाकुर साहब लापरवाही से बोले—हो ससुर गई होगी, अपने से क्या। देहात में चोरी-चकारी हुआ ही करती है।

वह व्यक्ति बोला—कुछ हल्ला-सा सुना है। ठीक पता नहीं, क्या बात है।

ठाकुर साहब ने कुछ उत्तर न दिया। एक घंटे के बाद बिंदा महाराज 'हाय-हाय' करते हुए आए। दूर ही से बोले—दोहाई है सरकार की! ग़रीब ब्राह्मण लुट गया! आपके राज में ऐसा कभी नहीं हुआ।

यह वही ब्राह्मण देवता थे, जिनसे ठाकुर साहब ने एकांत में बातें की थीं।

ठाकुर साहब बोले—अरे हुआ क्या?'

ब्राह्मण देवता आँसू पोंछते हुए बोले—सरकार, लुटिया-थाली सब चली गई। मैं तो, सरकार, मर गया। पेट काट-काटकर बाल-बच्चों के लिये जो कुछ जोड़ा था, सब चला गया!

ठाकुर साहब—क्या हुआ? चोरी हो गई क्या?

बिंदा—हाँ सरकार, सब चला गया। महराजिन के पास जो सौ-पचास रुपए का गहना था, वह भी चला गया!

ठाकुर साहब—यह तो बड़ी बेजा बात हुई। तुम्हारा किसी पर संदेह है?

बिंदा—अब बिना देखे किसको कहूँ सरकार। हाँ, ढकना चमार कहता है कि रात के दस बजे जब वह पेशाब करने उठा था, तो उसने कालका अहीर को एक आदमी के साथ कुछ खुसुर-पुसुर करते देखा था।

ठाकुर साहब—कौन कालका!

बिंदा—वही सधुवा का लड़का, जो अभी थोड़े दिन हुए आया है, शहर में नौकरी करता है।

ठाकुर साहब—अरे, वह तो बेचारा बड़ा भला आदमी है। वह ऐसा काम नहीं कर सकता।

बिंदा—सरकार, यही तो मैं भी कहता हूँ।

ठाकुर साहब बोले—मगर यह भी हम नहीं कह सकते कि यह उसका काम नहीं है। किसी के पेट का क्या पता! अच्छा, ढकना चमार को बुलाओ तो।

उसी समय एक गुड़ैत दौड़ाया गया। वह ढकना चमार को बुला लाया।

ठाकुर साहब ने पूछा—क्यों रे ढकना, क्या बात है? ठीक-ठीक क

ढकना बोला—सरकार, बात यह है कि कल रात के कोई दस

बजे हों चाहे ग्यारह, बस, ऐसा ही वख्त होगा, तब मैं पेसाब करने को उठा। पेसाब करके जब लौटने लगा, तो मैंने बिंदा महराज के घर के पास दो आदमियों को खड़े कुछ बातें करते देखा! बस, सरकार, मैंने खखारा। मेरा खखारना सुनकर वे दोनों चुप हो गए, और वहाँ से चल दिए। मैंने पूछा—कौन है? इस पर वे न बोले! तब फिर मैंने डाँटकर पूछा—कौन जाता है? बोलता नहीं? तब सरकार एक बोला—हम तो कालका हैं। बस, सरकार, फिर मैं घर में जाकर सो रहा। सबेरे उठकर सुना कि बिंदा महराज के यहाँ चोरी हो गई। इतनी बात, जो मैंने आँखों से देखी, वही इनसे भी कह दी। और कुछ मैं जानता-बानता नहीं।

ठाकुर साहब कुछ देर तक सोचकर बोले—सबूत तो पूरा है। अच्छा, कालका को बुलवाओ।

तुरंत आदमी गया, और कालका को बुला लाया। साथ में कालका का वृद्ध पिता सधुवा भी लाठी टेकता हुआ आया।

ठाकुर चंदनसिंह ने उससे कहा—कल रात को बिंदा महाराज के यहाँ चोरी हो गई है।

कालका बोला—हाँ मालिक, सबेरे मैंने भी हल्ला सुना था। बड़ा ग़ज़ब हुआ।

ठाकुर—कल रात को तुम कहाँ थे?

कालका कुछ भयभीत होकर बोला—कल तो, मालिक, मैं घर ही पर था।

कालका का पिता सधुवा बोल उठा—सरकार, यह तो कल साँझ ही से खा-पीकर सो गया था।

ठाकुर साहब ने कहा—कल रात को ग्यारह बजे लोगों ने तुम्हें बिंदा महराज के घर के पास एक आदमी से बातें करते देखा था।

कालका अधिकतर भयभीत होकर बोला—किसे ? मुझे ? अरे नहीं सरकार, मैं तो कल रात को पेशाब करने तक नहीं उठा।

सधुवा बोला—कौन ससुर कहता है ?

ठाकुर साहब ने कहा—यह ढकना चमार कहता है।

सधुवा ने ढकना की ओर देखकर पूछा—क्यों रे, क्या कहता है ?

ढकना चुप खड़ा रहा। कुछ उत्तर नहीं दिया।

ठाकुर साहब ने ढकना से कहा—अबे, जो देखा है, सो कहता क्यों नहीं ?

ठाकुर साहब ने गुप्त रूप से ढकना पर एक तीव्र दृष्टि डाली।

ढकना ने कहा—सरकार, कालका को एक आदमी से बातें करते देखा था।

ठाकुर साहब—कहाँ देखा था ?

ढकना—बिंदा महराज के घर के पास।

सधुवा ढकना को गाली देकर बोला—अपना सिर देखा था। साले को दिन में तो सूझता नहीं, रात को देखा था। क्यों भैया, हमने तुम्हारे साथ कौन दगा की है ? एक तो मेरा बच्चा गाँव छोड़े परदेस में पड़ा है। चार दिन की खातिर घर आया है, तो अब यह पाप लगाओगे। अरे ज़रा भगवान् को डरो। ऐसा अंधेर न करो !

ढकना फिर चुप हो गया। उसके मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं।

ठाकुर साहब ने उसे फिर घूरा। वह बोला—भैया, जो देखा, सो कह दिया। पाप तो हम किसी को लगाते नहीं।

सधुवा बोला—पाप नहीं लगाते, तो करते क्या हो ? मुँह पर खड़े सरासर झूठ बोल रहे हो, और ऊपर से कहते हो, पाप नहीं लगाता।

ठाकुर साहब ने कहा—अच्छा ख़ैर, इस झगड़े से क्या मतलब। थाने में रपट हो जानी चाहिए। थानेदार आप पता लगा लेंगे।

सधुवा बोला—मालिक का बेटा जिए। बस, यह ठीक है। जो चोर हो, सो डरे। जब डर नहीं, तो डर काहे का।

(२)

थाने में सूचना दे दी गई। दूसरे दिन थानेदार घोड़े पर सवार होकर दो सिपाहियों को साथ लिए हुए आ धमके। पहले ठाकुर साहब से मिले। ठाकुर साहब ने उन्हें एकांत में ले जाकर बातचीत की। थानेदार ने पूछा—कहिए सरकार, मामला क्या है ?

ठाकुर साहब बोले—मामला क्या, आपकी पाँचों घी में हैं।

थानेदार साहब की बाछें खिल गईं। बोले—सच ?

ठाकुर साहब बोले—झूठ तो मैं कभी बोलता ही नहीं।

थानेदार—कौन है ?

ठाकुर साहब—सधुवा अहीर का लड़का, कालका अहीर।

थानेदार—चोरी बिंदा महराज के यहाँ हुई है ?

ठाकुर साहब—चोरी किस ससुरे के हुई है। यह सब आपकी ख़ातिर है।

थानेदार—आपके भरोसे तो हम यहाँ जंगल में पड़े ही हैं। नहीं तो यहाँ धरा क्या है। हाँ, यह तो बताइए, कुछ सबूत भी है ?

ठाकुर साहब—एक चमार कहता है कि उसने रात को कालका को बिंदा महराज के घर के पास एक आदमी से बातें करते देखा था। तलाशी लेने के लिये इतना ही काफ़ी है।

यह कहकर ठाकुर साहब हँसने लगे।

थानेदार साहब बोले—फिर क्या है, कहाँ जाता है। हाँ, य तो बताइए, कालका के पल्ले भी कुछ है ?

ठाकुर साहब—आप तो बच्चों की-सी बातें करते हैं। पल्ले न

होता, तो यह सब बाँधनू बाँधने की आवश्यकता ही क्या थी। आपने मुझे कोई लौंडा समझ रक्खा है।

थानेदार साहब दाँतों-तले जीभ दबाकर बोले—आप हमारे मालिक हैं। हम भला ऐसा समझ सकते हैं!

कुछ देर तक दोनों इसी प्रकार की बातें करते रहे। इसके बाद ठाकुर साहब बोले—अब आप जाइए। ढकना चमार के बयान पर कालका के यहाँ तलाशी लीजिए।

यह कहकर ठाकुर साहब ने कुर्ते की जेब से दो चाँदी के गहने निकाले, और थानेदार साहब के हाथ में देकर कहा—लीजिए, यह तलाशी के लिये मसाला।

थानेदार साहब ने मुसकिराकर दोनों गहने जेब में रख लिए। फिर उठकर बोले—अच्छा, तो जाता हूँ।

ठाकुर साहब—हाँ, जाइए।

थानेदार साहब नरायनपुर चले गए।

दो घंटे के बाद थानेदार साहब लौटे। आगे-आगे थानेदार साहब थे, और पीछे दोनों सिपाही कालका की कमर में रस्सी बाँधे उसे ला रहे थे। हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी हुई थीं। पीछे कालका का पिता सधुवा रोता हुआ आ रहा था। साथ में चार-छः आदमी और भी थे।

थानेदार साहब ने सब हाल कहा, और दोनों गहने ठाकुर साहब के सामने रख दिए।

ठाकुर साहब सब देख-सुनकर बोले—थानेदार साहब, कालका बेचारा बड़ा भला आदमी है। उसने ऐसा काम कैसे किया, कुछ समझ में नहीं आता।

थानेदार बोला—समझ में आवे या न आवे, इसको क्या करें? जब सुबूत सामने रक्खा है, तब क़ानूनी काररवाई करनी ही पड़ेगी।

ठाकुर साहब—हाँ, यह तो ठीक ही है; पर इतना मैं कह सकता हूँ कि यह कालका का काम नहीं है।

सधुवा रोता हुआ बोला—मालिक, दूधों नहायँ, पूतों फलें। मालिक ने सच्ची बात कही। मेरा बच्चा यह काम नहीं कर सकता। इन गाँववाले सालों ने दग़ा की है। भगवान् करे, उन पर गाज गिरे! सालों के यहाँ कोई रोने-धोनेवाला न रहे। जैसे मेरे बच्चे को फँसवाया है, भगवान् देखनेवाला है।

यह कहकर सधुवा फूट-फूटकर रोने लगा।

ठाकुर साहब ने सधुवा को बुलाया—यहाँ तो आ रे।

सधुवा पास आया। ठाकुर साहब उसे अलग ले जाकर बोले—सधुवा, यह हमें विश्वास है कि यह काम कालका का नहीं है। पर जब तलाशी में गहने निकले हैं, तो अब बिना सज़ा पाए नहीं बचेगा। लंबी सज़ा होगी।

सधुवा बोला—अरे मालिक, ऐसा न कहो। मेरा बुढ़ापा बिगड़ जायगा। बे-मौत मर जाऊँगा। कोई उपाव करो। जो कुछ ख़र्च पड़ेगा, मैं दूँगा। वकील-बालिस्टर की फीस जो पड़ेगी, दूँगा। अपनी लुटिया-थाली बेच डालूँगा। बच्चा बना रहेगा, तो तुम्हारी गुलामी करके बहुत कमा लेगा।"

ठाकुर साहब बोले—तो हमारी सलाह मानो। कचहरी-अदालत का झगड़ा न रक्खो। वहाँ न-जाने चित पड़े या पट। थानेदार को को यहीं कुछ दे-लेकर मामला रफ़ा-दफ़ा कर डालो।

सधुवा—थानेदार मान जायँगे?

ठाकुर साहब—मानेंगे क्यों नहीं? हम कहेंगे, तो मान जायँगे।

सधुवा—ऐसा करा देव, तो मालिक, मैं जनम-भर गुन मानूँगा।

ठाकुर साहब—अच्छी बात है।

यह कहकर ठाकुर साहब थानेदार को अलग ले गए। कहा—सब ठीक है। कितना दिलवाऊँ?

थानेदार—जो आपकी परवरिश हो। मुझे क्या, जो कुछ भी मिल जायगा, वही बहुत है।

ठाकुर साहब—अच्छी बात है।

ठाकुर साहब ने सधुवा को बुलाकर कहा—तीन सौ रुपए माँगते हैं।

सधुवा—मालिक, इतना तो मेरे किए न होगा, मर जाऊँगा। बहुत ग़रीब आदमी हूँ।

ठाकुर साहब—इससे कम में राज़ी न होंगे।

सधुवा—नहीं मालिक, ऐसा न कहो। आप सब कुछ कर सकते हैं।

ठाकुर—तो तुम क्या दे सकते हो, वह भी तो बताओ? यह समझ लेना कि अदालत में भी तुम्हारे तीन-चार सौ रुपए ख़र्च हो जायँगे, और फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि छूट ही जायगा। छूटे-न-छूटे। कौन जाने। हाकिम को क्या जानें क्या समझ में आवे।

सधुवा—तो सरकार, आधे पर मामला तय करा दो।

ठाकुर—डेढ़ सौ पर?

सधुवा—हाँ मालिक, यह भी पेट मसोसकर जब बैल-बधिया बेचूँगा, तब होगा। क्या करें, भाग फूट गया, बैठे-बिठाए डाँड़ देना पड़ रहा है। कलेजा मुँह को आता है। इन गाँववालों को......न-जाने सालों ने कब का बैर चुकाया।

ठाकुर साहब ने कहा—अच्छा, देखो कहता हूँ, जो मान जायँ।

इसी प्रकार ठाकुर साहब ने दो-तीन बार इधर-उधर करके दो सौ में फ़ैसला किया। सधुवा से बोले—थानेदार साहब दो सौ से कम पर किसी तरह राज़ी नहीं होते।

सधुवा—तो जैसा सरकार कहें ।

ठाकुर—कहना क्या है, देखो । पचास रुपए की तो बात ही है ! सब मामला यहीं रफ़ा-दफ़ा हुआ जाता है ।

सधुवा उसी समय घर दौड़ा हुआ गया । लौटकर उसने डेढ़ सौ रुपए ठाकुर साहब के हाथ में धरे । रुपए देते समय उसकी बुरी दशा थी । मानों अपने पुत्र को बचाने के लिये अपना कलेजा निकालकर दे रहा हो ।

ठाकुर—ये तो डेढ़ ही सौ हैं ।

सधुवा—हाँ मालिक, इतने ही थे । पचास तुम अपने पास से दे दो । चाहे फ़सल पर सूद-ब्याज लगाकर ले लेना, और चाहे मेरी भैंस सत्तर रुपए की है, वह ले लो । रुपए तो और हैं नहीं ।

ठाकुर—अच्छी बात है ।

ठाकुर साहब ने थानेदार को अलग ले जाकर पचास रुपए थमाए, और बोले—ग़रीब आदमी है । इससे अधिक नहीं दे सकता ।

थानेदार साहब ने कौन गेहूँ बेचे थे । इतने भी उन्हें ठाकुर साहब की कृपा से पड़े मिले । अतएव उन्होंने धन्यवाद-पूर्वक रुपए ले लिए । कालका उसी समय छोड़ दिया गया ।

अधिकांश लोगों ने यही समझा कि कालका दोषी था पर ठाकुर साहब की कृपा से छूट गया । जो समझदार थे, और जिन्होंने कुछ समझा, वे भी चुप रहने के सिवा और क्या कर सकते थे । किसकी मजाल थी कि ठाकुर साहब और थानेदार के विरुद्ध कुछ कह सके ।

(३)

रात को सधुवा, कालका तथा गाँव के दो-चार अन्य आदमी सधुवा की चौपाल में बैठे बातें कर रहे थे । एक आदमी कह रहा था—भैया, नाक-नाक बदता हूँ, यह सब चाल ठाकुर साहब की ही है । न कहीं चोरी हुई, न चकारी ।

कालका—अब उनका दीन-ईमान जाने, हमारी तो लोटा-थाली बिक गई। काहे ननकू काका, बेजा कहता हूँ?

ननकू—नहीं बबुआ, बेजा क्या है। अरे, सब गाँव जानता है जैसे ठाकुर साहब हैं। पर क्या किया जाय, जबरदस्त का ठेंगा सिर पर! यही ठाकुर साहब हैं, पर साल हमें बुलाया, और बोले—कहो ननकू, अब कुछ रुपए-उपए नहीं लेते। मालूम होता है, बड़े मालदार हो गए हो। मैंने कहा—मालिक, करज लेने का बूता नहीं है। लेना सहज है, पर देना कठिन पड़ जाता है। बोले—इतना कमाते हो, कुछ हमें भी तो दिया करो। मैं कुछ नहीं बोला। दूसरे दिन गाँववालों ने कहा—ठाकुर साहब से कुछ क़रज़ ले लेओ, नहीं तो किसी इल्लत में फँसा देंगे। तब भैया पचीस रुपए उनसे लिए। इकन्नी रुपए का ब्याज देता हूँ।

कालका—तो बिना जरूरत ले लिए?

ननकू—क्या करें बबुआ, डेढ़ रुपया महीना उन्हें बैठे-बिठाए देते हैं। न दें, तो भला कल से बैठने पावें?

दूसरा व्यक्ति बोला—ननकू भैया, तुम्हारा हाल जाना हो या न हो, अभी त्यौरुस ऐसे ही कलुआ काछी से कहा था। उसने उनकी बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया। बस, तीसरे ही दिन रात को सारा खेत उजाड़ दिया; रात-भर में सब बाली काट ली गई; ख़ाली पौदे ठूँठ-ऐसे खड़े रह गए! कलुआ बहुत दौड़ा-धूपा, रपोट की, पर कुछ न हुआ। पता ही न लगा। ग़रीब पेट मसोसकर रह गया। ढाई-तीन सौ रुपए के मत्थे गई।

सधुवा एक लंबी साँस खींचकर बोला—एक-न-एक दिन भगवान् ग़रीबों की सुनेंगे ही।

ननकू—अरे, जब सुनेंगे तब; अभी तो सबको पेरे डाल रहे हैं। न किसी को खाते देख सकें, न पहनते। हमारे काका जब इनके पास

जाते हैं, तो फटी लँगोटी लगाकर। उनका कहना है कि जहाँ ठाकुर साहब ने किसान के पास साबुत कपड़े देखे कि बस, उन्होंने समझा, इसके पास माल हो गया है, नोचो साले को।

कालका—भला इनसे कोई ख़ुस भी है?

ननकू—ख़ुस कोई नहीं। इन गुनों से कौन ख़ुस होगा। किसी को छोड़ा हो तब न!

कालका—कोई ख़ुस नहीं, तब भी यह हाल है? बुरा न मानना ननकू काका, अभी ये बातें करते हो, मगर अभी जो ठाकुर कहें, तो तुम्हीं हमारा गला काटने को तैयार हो जाओ।

दूसरा व्यक्ति बोला—भैया, क्या करें, कुछ ख़ुसी से थोड़े ही ऐसा करते हैं। डर के मारे करना पड़ता है। न करें, तो घर न फूँक दिया जाय!

ननकू—यही बात है भैया, अपनी जान और माल सबको प्यारा होता है। इसी ख़ातिर सब करते हैं।

सधुवा—कबहुँ तौ दीनदयाल के भनक परैगी कान। कभी तो भगवान् ग़रीबों की सुनेंगे!

ननकू—परसाल ठाकुर ने भट्टा लगवाया था। आस-पास के गाँवों के दस-बीस आदमी पकड़ बुलाए जाते थे। दिन-भर काम करवाते थे, और साँझ को आठ पैसे देते थे। तुम्हीं बताओ, आठ पैसे में कौन दिन-भर ख़ुसी से मरने जाता था? पर क्या करें, सब करना पड़ता था।

दूसरा व्यक्ति—हाँ भैया, ऐसी ही बात है। दिन-भर जी तोड़-कर काम करते थे, फिर भी ठाकुर की निगाह टेढ़ी ही रहती थी। एक दिन मैंने कहा—'मालिक, चार दिन की छुट्टी दे दो, तो खेत सींच लें, सूखे जा रहे हैं।' बोले—'खेतों में आग लगा दो। हमारा काम हो जायगा, तब अपना काम करने पाओगे।' मैं चुप हो गया।

और कुछ कहता, तो मार पड़ती। फिर यही हुआ कि अपने काम के लिये पाँच आने रोज़ का मजूर रखना पड़ा। दो आने हमें मिलते थे, और पाँच आने हम देते थे।

कालका—भट्ठा काहे को लगवाया था?

वही व्यक्ति—जो सिवाला बनवाया है, उसी के लिये भट्ठा लगवाया था।

कालका—ग़रीबों का गला काटकर सिवाला बनवाने में कौन पुन्न है?

ननकू—अब यह उनसे कौन पूछे?

वही व्यक्ति—भैया की बातें! इतना पूछना तो बड़ा काम है। जरा-जरा-सी बातों में तो पीठ की खाल उड़ा दी जाती है। इतना जो कोई कह दे, उनसे न सही, किसी दूसरे ही से कहे, और वह सुन पावें, तो खोदके गड़वा दें। दिल्लगी थोड़े है। छोटे-मोटे ज़मींदारों की तो मजाल ही नहीं कि उनकी बात को टुलखें, फिर किसान बेचारे किस गिनती में हैं।

सधुवा—भैया, हमारे तो सब करम हो गए। आबरू-की-आबरू गई, और माल गया घाते में।

ननकू—माल तो, हाँ, गया ही, पर आबरू जाने की कोई बात नहीं। गाँव-भर समझ गया है कि यह ठाकुर साहब की गढ़ंत थी।

कालका—हाँ सब जान भले गए हों, पर कहने-सुनने को तो हो गया। वह जो कहते हैं कि 'थाली फूटी या न फूटी, झनकार तो हुई'।

सधुवा—जो कुछ पल्ले था, वह चला गया, ऊपर से ठाकुर साहब के पचास रुपए के क़र्ज़दार हो गए। भैंस पर ठाकुर का दाँत है। सो भैंस तो हम दिवाल हैं नहीं, रुपया और व्याज दे देंगे।

ननकू—यही तुम्हारी भूल है। भैंस दे दोगे, तो मजे में रहोगे

ठाकुर का क़र्ज़ रखना ठीक नहीं। क्यों भाई रामचरन, झूठ कहता हूँ?

रामचरन, जिसे हम अभी तक 'वही व्यक्ति' लिखते आए हैं, बोला—यह बात तो ननकू भाई की सोलहो आने ठीक है। जनम-भर देते रहोगे, तब भी ठाकुर से उरिन नहीं हो पाओगे। समझे साधू भाई? भैंस दे डालो। तुम्हारी जिंदगी है, तो भैंसें ससुरी पचास हो जायँगी। कंचना अहिर के बाप ने ठाकुर से पंद्रह रुपए लिए थे। पाँच बरस तक बाप देते-देते मर गया, और चार बरस से कंचना दे रहा है, फिर भी पाँच रुपए बक़ाया में घुसेड़े बैठे हैं। हर फसल में ब्याज दिया जाता रहा, और दो-तीन रुपए असल में, फिर भी अभी तक रुपए नहीं पटे।

कालका—तो किसी हिसाब ही से लेते होंगे।

रामचरन—हिसाब-किताब कुछ नहीं। जो वह ठीक समझें, वही हिसाब है। इसके सिवा न कोई हिसाब है न किताब! त्यौरस साल कंचना ने कहा—मालिक, मेरे हिसाब से तो रुपए आपके सब अदा हो गए। ठाकुर बोले—अभी आठ रुपए बाक़ी हैं। कंचना बोला—नहीं मालिक, अब तो एक पैसा नहीं रहा। बस, ठाकुर आग हो गया। बोला—मार तो साले के पचास जूते। साला हमें बेईमान बनाता है। उसी वखत दस-पंद्रह जूते बेचारे के पड़ गए। फिर ठाकुर बोले—अब साले, तुझे दस देने पड़ेंगे। दो रुपया जरीमाना किया। बेचारा झाड़-पोंछ के चला आया। अब वही दस अदा कर रहा है।

कालका—फिर ननकू काका, तुमने ठाकुर से पचीस रुपए काहे को लिए?

ननकू—तो बबुआ, कुछ अदा करने के लिये थोड़े लिए हैं। खाली डेढ़ रुपया महीना ब्याज दे देता हूँ। असल में एक पैसा

नहीं देता, और न कभी दूँगा। जब ठाकुर आप असल में माँगेंगे, तो एकदम पचीस रुपए फेंक दूँगा। दो-दो, चार-चार करके तो इन्हें कभी दे ही नहीं; नहीं तो जनम-भर नहीं पटेंगे। कुछ-न-कुछ बाकी लगी ही रहेगी। हमने तो समझ लिया है कि जहाँ अपने बाल-बच्चों के लिये कमाते हैं, वहाँ डेढ़ रुपए महीना देकर ठाकुर का भी मुँह झुलसते रहेंगे।

(४)

यदि लोगों से पूछा जाय कि संसार में पाप कौन अधिक करता है, तो अधिकांश लोग यही उत्तर देंगे कि निर्धन आदमी। परंतु यदि हमसे पूछा जाय, तो हम यही कहेंगे कि धनी आदमी जितना पाप करता है, उसका दशांश भी निर्धन आदमी नहीं करता। यदि औसत निकाला जाय, तो बेईमानों, व्यभिचारियों, चोरों, झूठों और बदमाशों की अधिक संख्या धनाढ्यों में ही मिलेगी। धनी आदमी को पाप करने का अवसर जैसे आसानी से मिल जाता है, वैसे निर्धन को नहीं। पाप करने के लिये जितना साहस धनी के हृदय में होता है, उतना निर्धन के हृदय में नहीं। और, जितनी जल्दी निर्धन का पाप प्रकट हो जाता है, उतनी जल्दी बड़े आदमी का नहीं। छोटे आदमी पर लोगों को जल्दी संदेह होता है, और इसलिये उसका पाप प्रकट हो जाता है। पाप प्रकट हो जाने पर निर्धन के पास अपने को निर्दोष प्रमाणित करने का कोई साधन नहीं रहता, इस कारण वह शीघ्र दंड पा जाता है। इसके प्रतिकूल, धनी बड़े आदमी पर संदेह करने का साहस लोगों में बहुत कम होता है, इसलिये उसका पाप प्रकट नहीं होता। यदि प्रकट भी हो गया, तो धन के बल से वह प्राय: उसके लिये दंड पाने से बच जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बड़े आदमियों के पाप के लिये छोटे आदमी दंड पाते हैं, और बड़े आदमी साफ़ बच जाते हैं।

पूर्वोक्त घटना हुए एक वर्ष व्यतीत हो गया।

शाम का समय था। मधुवा एक नीम के वृक्ष के तले बैठा तंबाकू पी रहा था। गाँव के दो-चार आदमी उसके पास बैठे हुए थे। उसी समय एक आदमी घबराया हुआ आया, और मधुवा से बोला—काका, बड़ा ग़ज़ब हो गया।

मधुवा बोला—क्या हुआ?

वह बोला—सिवदीन मर गया।

मधुवा ने चकित होकर पूछा—मर गया?

वह बोला—हाँ।

मधुवा—कैसे? सवेरे तो अच्छा-भला काम पर गया था!

वह—ठाकुर ने मरवा डाला।

मधुवा—ऐं! तू बकता क्या है?

वह—बकता नहीं, ठीक कहता हूँ।

मधुवा—कैसे मरवा डाला?

वही व्यक्ति—वह काम कर रहा था। इतने में उसे प्यास लगी। वह पानी पीने गया। पानी के बाद थोड़ी देर बैठा रहा। इतने में ठाकुर उधर आ निकले। उन्होंने डाँटकर कहा—क्यों रे, बैठा क्या करता है, काम नहीं करता। सिवदिनवा बोला—मालिक, अभी-अभी पानी पीने को आया था। अब जाता हूँ। ठाकुर बोले—उठ जल्दी। उसने कहा—मालिक अभी जाता हूँ, जरा सुस्ता लूँ। इतना सुनते ही ठाकुर ने एक लात मारी, और कहा—साले, सुस्ताने आया है या काम करने? बस, इतना सुनना था कि सिवदिनवा बोला—वह क्या बोला, उसके सिर पर मौत खेलती थी, उसीने बुलवाया—मालिक दिन-भर तो काम किया। हम भी आदमी हैं, कोई जानवर नहीं हैं। ऐसी मजूरी हमें नहीं करनी। कल से हम नहीं आवेंगे। और कोई आदमी ढूँढ़ लेना। यह कहकर वह

उठ खड़ा हुआ। इतना सुनते ही ठाकुर का मुँह लाल हो गया। उन्होंने न आव देखा न ताव, तड़ से एक डंडा मार ही तो दिया। डंडा खाकर सिवदिनवा बोला—बस मालिक, अब न मारना, नहीं अच्छा न होगा। बस काका, ठाकुर का मुँह अंगारा हो गया। उन्होंने उसी वक्त एक गुड़ैत को बुलाया, और कहा—मारो साले को, खूब मारो। गुड़ैत डंडा लेकर जुट गया। उसे किस बात का डर था। जब ठाकुर सामने खड़े कह रहे थे, तब डर काहे का। उसने तीन-चार लाठियाँ जो मारीं, तो बस काका, सिवदिनवा पसर गया। उसने आँखें फाड़ दीं, फिर भी ठाकुर बोले—साला ढोंग करता है। मारे जाओ। गुड़ैत ने तीन-चार लाठियाँ और मारीं। बस, गरीब सिवदिनवा के परान निकल गए।

सधुवा—फिर क्या हुआ?

वही—हुआ क्या। उसी वखत उधर से लछमीपुर के ज़मींदार अपने गाँव जा रहे थे। शहर से दो बजेवाली गाड़ी में आए थे। हल्ला जो हुआ, तो वह भी उतर पड़े। उन्होंने जब देखा कि सिवदिनवा मर गया, तो उसी वखत थाने पर रपोट करवाई। उनकी और ठाकुर चंदनसिंह की तो लाग-डाँट चली ही आती है। थानेदार आए। ज़मींदार ने अपने सामने गुड़ैत के बयान लिवाए। गुड़ैत ने कह दिया कि 'पहले ठाकुर ने आप मारा, फिर मुझसे मारने को कहा। मैंने भी दो-तीन लाठियाँ मारीं। बस, मर गया!' अब लहास थाने पर गई है! ठाकुर चंदनसिंह और गुड़ैत भी पकड़े गए हैं!

सधुवा—यह तो बड़ा गजब हुआ। अब ठाकुर बिना सजा खाए नहीं बचेंगे।

एक दूसरा आदमी बोला—भगवान् ने गरीबों की सुन ली। बड़ा उत्पात मचा रक्खा था। ठाकुर गरीबों को मारे डालता था। अब पाप का घड़ा फूटा है।

इस घटना से आस-पास बड़ी सनसनी फैली। परंतु सब प्रसन्न थे। इधर कुछ दिनों से ठाकुर साहब और थानेदार में भी लाग-डाँट हो गई थी। उसने भी खोलकर ठाकुर साहब को फाँसने की चेष्टा शुरू कर दी। लक्ष्मीपुर के ज़मींदार गजराजसिंह और चंद्रनसिंह में काफ़ी शत्रुता थी। कई बार मुक़द्दमेबाज़ी भी हो चुकी थी। इस कारण उनकी गवाही अधिक ज़ोरदार न थी। पुलीस ने आस-पास के गाँवों के किसानों को गवाही में लेना शुरू किया, और बहुत-से सच्चे-झूठे गवाह तैयार कर लिए। ठाकुर साहब से सब जलते ही थे, अतएव जिनके सामने यह घटना हुई थी, वे तो तैयार ही हो गए, परंतु जो वहाँ उपस्थित न थे, वे भी झूठी गवाही देने को तैयार हो गए। सधुवा पर भी पुलीस का ज़ोर पड़ा! इधर गाँववालों ने भी कहा—तुम्हारे साथ भी तो ठाकुर ने कुछ नहीं उठा रक्खा था। अब बदला लेने का समय आ गया है। कम-से-कम कालेपानी तो भिजवाओ।

सधुवा ने बहुत कुछ बचना चाहा—बोला, "झूठी गवाही तो हम न देंगे", पर उसकी एक न चली। थानेदार ने आँखें नीली-पीली करके कहा—सुनता है बे, तुझे गवाही देनी ही पड़ेगी। चीं-चपड़ करेगा, तो तुझे भी चार साल को भिजवाऊँगा।

सधुवा ने विवश होकर स्वीकार कर लिया।

ठीक समय पर मुक़द्दमा पेश हुआ। पुलीस ने गवाहों को सिखाया था कि कहना, ठाकुर और गुड़ैत; दोनों ने मिलकर मारा है। ठाकुर डंडे से पीट रहे थे, और गुड़ैत लाठी से।

इधर सधुवा ने काका से कहा था—बबुआ, झूठी गवाही देना बड़ा पाप है, फिर ख़ून के मामले में। पर पुलीस नहीं मानती।

साथ कौन नेकी की है ? गवाही ज़रूर दो। बात तो ठीक हुई है, फिर पाप-पुन्य काहे का।

सधुवा—ठीक तो है, पर वहाँ तो कहना पड़ेगा कि हमने अपनी आँखों से देखा है। मैं तो उस वखत वहाँ था नहीं।

कालका—इस सोच-विचार में न पड़ो। सब ठीक है। ऐसे के साथ ऐसा ही करना चाहिए।

सब गवाहों ने वैसा ही कहा, जैसा कि पुलीस ने सिखाया था। जब सधुवा की बारी आई, तब उसका सारा शरीर काँप रहा था। जब उससे प्रश्न किया गया, तो वह बोला—हजूर, मैं उस वखत वहाँ नहीं, अपने गाँव में था। मुझे नहीं मालूम, किसने मारा। हाँ, मैंने यह ज़रूर सुना कि ठाकुर ने सिवदीन को गुड़ैत से पिटवाया था।

मैजिस्ट्रेट—गुड़ैत से पिटवाया, और खुद भी मारा ?

सधुवा—नहीं हजूर, खुद तो ख़ाली दो-एक डंडे मारे थे। उनकी मार से यह नहीं मरा, मरा गुड़ैत की मारे से।

मैजिस्ट्रेट—तुम वहाँ मौजूद था ?

सधुवा—नहीं सरकार, मैंने सुना था।

मैजिस्ट्रेट—किससे सुना ?

सधुवा—गाँव के सब आदमी यही कहते थे।

मैजिस्ट्रेट को यह बात जँच गई कि सधुवा सच्ची गवाही दे रहा है। उन्होंने ठाकुर साहब को तीन बरस की सख़्त क़ैद की सज़ा और गुड़ैत को सेशन-सिपुर्द कर दिया।

* * *

जेल जाते समय ठाकुर साहब ने सधुवा को अपने पास बुलाया, और रोते हुए कहा—मैंने तुम्हारे साथ जो कुछ किया था, उसे भूलकर तुमने मेरे साथ यह नेकी की है। इसे मैं जन्म-भर नहीं भूलूँगा। सधुवा, तूने ग़रीब होते हुए भी यह दिखा दिया कि संसार में सच्चे

और ईश्वर से डरनेवाले मनुष्यों का अभाव नहीं। भाई, मेरा अपराध क्षमा करना।

सधुवा की आँखों से भी अश्रु-पात होने लगा। उसने गद्‌गद कंठ से कहा—मालिक, भगवान् आपका भला करें।

सधुवा लौटकर गाँव नहीं गया। वह शहर में अपने पुत्र ही के पास रहने लगा।

दूसरे दिन चंदनसिंह के पुत्र सधुवा के पास पहुँचे, और उन्होंने उसके सामने एक हज़ार रुपए की थैली रख दी। सधुवा चकित होकर बोला—यह क्या? चंदनसिंह के पुत्र ने कहा—पिताजी ने ये रुपए तुम्हें दिलवाए हैं।

सधुवा बोला—बबुआ, क्या ठाकुर यह समझे कि मैंने पए के लोभ से सच्ची बात कही? राम-राम! बबुआ, जो कुछ मैंने किया, वह भगवान् के डर से। मुझे रुपए-पैसे की जरूरत नहीं। इन्हें ले जाओ।

चंदनसिंह के पुत्र ने बहुत कुछ कहा, पर सधुवा ने एक पैसा न लिया। उसकी उस सचाई का कारण केवल ईश्वर का डर था।